साहित्य सौन्दर्य और संस्कृति

डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डे

साहित्य सौन्दर्य और संस्कृति

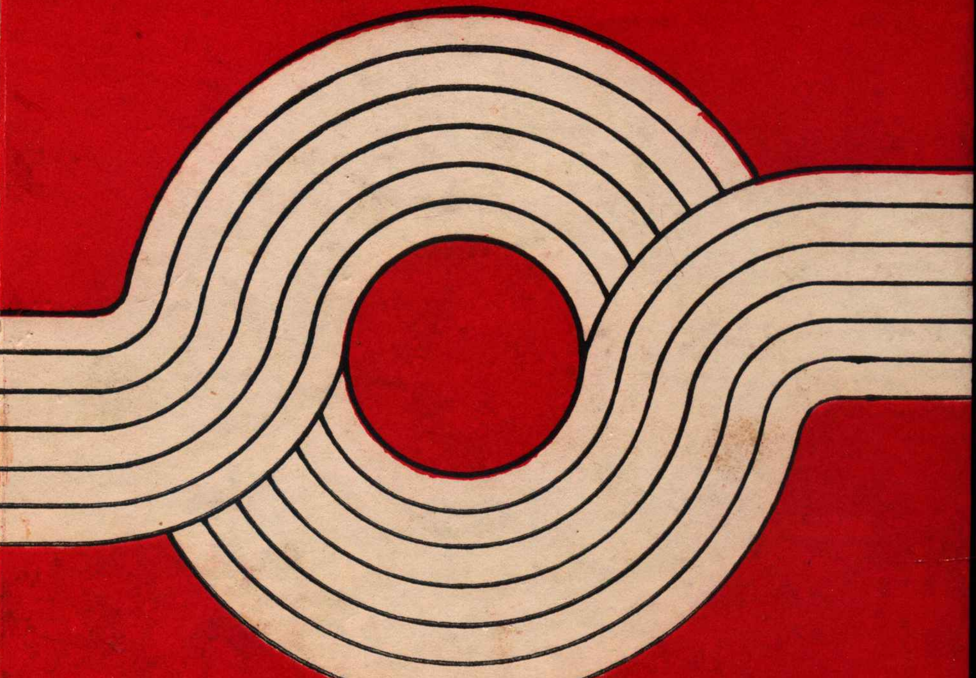

डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डे

साहित्य, सौन्दर्य

और

संस्कृति

साहित्य, सौन्दर्य और संस्कृति

गोविन्द चन्द्र पाण्डे

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

प्रकाशक	:	**हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद**
मूल्य	:	रु० ५०/- मात्र
प्रथम संस्करण	:	११०० प्रतियाँ (१९९४)
मुद्रक	:	**राका प्रकाशन** ४०-ए, मोती लाल नेहरू रोड, इलाहाबाद-२११००२

स्वर्गीय पूज्य श्री तारादत्त पाण्डे जी को
सादर

प्राक्कथन

स्वदेशी और विदेशी परम्पराओं से प्रेरित होकर वर्तमान हिन्दी साहित्य और आलोचना नाना दिशाओं में प्रचलित है। उन सब का विवरण अथवा मूल्यांकन इन व्याख्यानों में अभिप्रेत नहीं है, न भारतीय अथवा पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रीय मतों का विवरण ही यहाँ मुझे अभीष्ट है। मेरा अभिप्राय साहित्य, सौन्दर्यशास्त्र एवं संस्कृति की सापेक्षता का प्रतिपादन है। यद्यपि नाना विषयों से उद्‌भूत होकर भी सौन्दर्यबोध में एक मौलिक अद्वैत की सूचना होती है, तो भी उसका शास्त्रीय प्रतिपादन अनिवार्यतया अनेक रूपों में होता है। इसका कारण उसके लक्षण-विवेचन की द्विविध सापेक्षता है-- दृष्टि सापेक्षता और लक्ष्य सापेक्षता। विचार-दृष्टि एवं साहित्य-कलात्मक लक्ष्य दोनों ही सांस्कृतिक इतिहास के विविध और परिवर्तनशील सांस्कृतिक अंग होते हैं। जिन साहित्यिक प्रतिमानों, शास्त्रीय प्रत्ययों, सामाजिक भावों एवं सांस्कृतिक दृष्टियों से साहित्य प्रभावित होता है, जिस भाषात्मक उपादान का वह उपयोग करता है, वे सभी इतिहास-प्रवाह के अन्दर रूप ग्रहण करते हैं। पर यह ऐतिहासिक सापेक्षवाद न मूल्यों का निषेध है, न उनकी समकोटिकता का विधान। उनके तुलनात्मक तारतम्य-निर्णय की वह अवश्य एक सीमा बाँध देता है। वह साहित्य के आलोचक को उसके बहिरंग कारणों का विवेचक या उसके अयःशलाकावत् प्रदत्त मूल्य का उदासीन निर्णयकर्ता न मानकर उसे मूलतः कृति के आभ्यन्तरिक एवं अभ्यन्तरीभूत संदर्भों का तत्त्व-जिज्ञासु मानता है। यह धारणा विचार की एक दिशामात्र के रूप में प्रस्तुत की जा रही है।

हिन्दुस्तानी एकेडमी और प्रो० जगदीश गुप्त का मैं आभारी हूँ कि उनके सौजन्य से इन व्याख्यानों का डॉ० धीरेन्द्र वर्मा स्मृति व्याख्यानमाला के अन्तर्गत आयोजन और प्रकाशन संभव हुआ। जगदीश जी का मैं इसलिये भी आभारी हूँ कि उन्होंने एक विस्तृत आमुख लिख कर अपना निजी मन्तव्य प्रकट किया है। उनके इस योगदान के बावजूद इन व्याख्यानों में जो कमियाँ एवं त्रुटियाँ रह गयी हैं उनके लिए मैं सुधी पाठकों से क्षमा प्रार्थी हूँ।

गोविन्द चन्द्र पाण्डे

प्रयाग

दीपावली, १६६४

प्रकाशकीय

'डॉ० धीरेन्द्र वर्मा व्याख्यानमाला' के अन्तर्गत 'साहित्य, सौन्दर्य और संस्कृति' विषयक यह पाँचवाँ व्याख्यान है। इसके व्याख्यानदाता प्रो० गोविन्द चन्द्र पाण्डे इतिहास, दर्शन, साहित्य एवं संस्कृति के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। एकेडेमी के आग्रह को स्वीकार करके उन्होंने दिनांक १३-९-९३ को यह व्याख्यान दिया था। इसके लिए हम उनके आभारी हैं। एकेडेमी के अध्यक्ष डॉ० जगदीश गुप्त ने वैदुष्यपूर्ण 'आमुख' लिखकर ग्रंथ के महत्व को रेखांकित किया है।

हमें विश्वास है कि पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित यह व्याख्यान विद्वानों के बीच समादृत होगी।

हरिमोहन मालवीय

सचिव

आमुख

— **जगदीश गुप्त**

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषवजाते' की औपनिषदिक कल्पना के अन्तर्गत **'जीव'** और **'ब्रह्म'** का जो तृतीय मुण्डक में प्रतीकात्मक निरूपण हुआ है उसमें एकता के साथ विभेद भी रेखांकित हो जाता है। स्वाद-ग्रहण एक ओर और स्वाद-निरपेक्षता दूसरी ओर, फलित वृक्ष मध्य में। मुझे पूरा चित्र सजीव रूप में परिलक्षित हो उठता है और संकेतार्थ स्वयं उजागर होने लगता है। किन्तु, एक दूसरी तत्वदृष्टि है जो दोनों के भीतर अभेद निरूपित करती है। द्रष्टव्य है **'शिवसूत्रविमर्शिनी'** का यह श्लोक जो सैद्धान्तिक रूप से **'सामरस्य'** की स्थापना करता है---

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम् ।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः ।।

भेद और अभेद की जड़-चेतनात्मक स्थिति को **सगुण-रहस्यवाद** की संज्ञा देना मुझे नवीन परितोष देता है। **'मृण्मय'** के साथ **'चिन्मय'** की अविभाज्य युति रहस्यमयी लगती है और अब वैज्ञानिक भी 'मैटर' को 'एनर्जी' में परिवर्तित होने का प्रत्ययात्मक अनुभव करने लगे हैं तो केवल जीवाणु की प्रकृति का आनयन शेष है। अन्तर्बाह्य व्यक्त जीवन में, मनुष्य की प्रज्ञा ने तो युगों पूर्व उसका अनुभव किया और कालान्तर में विभिन्न दर्शनों के रूप में उसे निरूपित भी किया है। **द्वैताद्वैत** की सरणि में अनेक विकास-क्रम लक्षित होते हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। शैव, शाक्त और वैष्णव के त्रिगुणात्मक चिन्तन में तथा पंचदेवोपासना के लोक-व्याप्त स्वरूप में यह तथ्य निर्भ्रान्त रूप में देखा जा सकता है। भारतीय संस्कृति की समन्वयात्मकता वैचारिक संघर्ष को अतिक्रमित करके प्रतिष्ठित हुई है, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं है।

जीवन की अनुभवात्मक एवं रचनात्मक पूर्णता की कल्पना कवि-कलाकारों ने इतने विशद रूप में की है कि सौन्दर्य की श्रृंखला बन जाती है। जो जहाँ चाहे रुक कर दर्पण में अपनी छवि देख सकता है। अखण्डता के साथ स्तर-भेद की सजगता सौन्दर्य-बोध में निरन्तर देखी जा सकती है और वही मूल्यांकन का आधार भी बनती है। **'पुरुष-सूक्त'** से संप्रेरित सादृश्य पर आधारित वर्ण-व्यवस्था शूद्रों को काटकर सवर्ण कैसे बनी रही, विवर्ण क्यों नहीं प्रतीत हुई, इसके जो भी कारण

रहे हों पर भक्ति-काल ने मनुष्य के भीतर तात्विक एकता पर ही दृष्टिपात किया। 'जाति-पाँति' को भुलाकर 'हरि' को सर्वत्र देखना, सगुण-निर्गुण दोनों धाराओं में शताब्दियों तक प्रतिष्ठित रहा। **'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'** से यह बात कहीं नहीं निकलती कि रूपकात्मक शरीर में ऊँच-नीच का कोई भेद हो। **'वास्तुपुरुषमण्डल'** की शयानक धारणा को जब ऊर्ध्वाधर रूप दिया गया तो आकाश की उच्चता और धरती की निम्नता आचारात्मक रूप ग्रहण करने लगी। वर्ण-व्यवस्था में यह भेद **'मनुस्मृति'** ने मान लिया जिसका प्रतिवाद संतों ने निरन्तर किया वरन् अपनी गरिमा एवं स्वाभिमान के लिये सुरसरि को नख-निर्गता मान कर विष्णु के चरणों में स्थान दिया। काव्य में ज्ञान प्रधान ब्राह्मणत्व, स्थापत्य में शक्ति-प्रधान क्षत्रित्व, चित्रकला में वैश्व-भाव तथा संगीत में शूद्रत्व की धारणा निर्दिष्ट की गयी। हंसकुमार तिवारी ने **'कला'** नामक अलभ्य पुस्तक में यह बात कला के वर्गीकरण के प्रसंग में उठायी है और पैरों को सर्वोपरि स्थान दे दिया क्योंकि वे सदा धरती से जुड़े रहे--

सीस कान मुख नासिका ऊँचे ऊँचे नाँव।
सहजो नीचे कारने सब कोउ पूजे पाँव।।

चार्वाक-दर्शन स्वभाववादी ही नहीं उच्छेदवादी भी है। **आत्मा, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक, ईश्वर** आदि अलौकिक सत्ताओं का उसमें मूलतः अस्तित्व ही नहीं है। पारलौकिक सत्ता उसे सर्वथा अमान्य है। इसी विचारधारा को **'Indian Materialsm'** नाम से भौतिकवादी मार्क्सवादियों ने पुनरुज्जीवित करने का गम्भीर अन्वेषणात्मक प्रयत्न किया। किन्तु, रूस में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का विश्वस्तर पर नाटकीय अन्त हो गया और ऐसा स्वप्न-भंग हुआ कि सहसा विश्वास नहीं होता। अमरीकी कूटनीति ने पूँजीवादी विचार को छल-बल के साथ वरीयता देकर ऐसे स्थापित कर दिया कि उसकी **'Stateless Society'** की यूटोपियन कल्पना ही ध्वस्त हो गयी। फिर भी, इतनी विश्वव्यापी सशक्त क्रान्तिकारी विचारधारा अपने को पुनः संगठित करके, नये संघर्ष का सूत्रपात करने जा रही है। किन्तु, उसकी वैज्ञानिकता पर जो कठोर दार्शनिक आघात लगा, उसे मनोवैज्ञानिक रीति से सहना दुष्कर है।

विश्व-व्यवस्था अब किस दिशा में गतिशील होगी, इसका निर्णय भारत जैसे विशाल लोकतन्त्र के द्वारा तीसरी दुनिया के रूप में उजागर हो सकता है। राष्ट्रीयता को अन्तर्राष्ट्रीयता की तुलना में पुनः प्रतिष्ठित करने का अवसर आ गया

है। सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा भौतिकवाद से नियोजित न होकर मानव-केन्द्रित आधुनिक अध्यात्मवाद से अनुशासित हो सकती है। सन्तुलन की नयी चेष्टा प्रतिवाद का अतिक्रमण करने की प्रेरणा बने। '**अति सर्वत्र वर्जयेत्**'। '**अर्थ**' और '**काम**' को अनुशासित करने के लिए '**मोक्ष**' की तो नहीं पर '**धर्म**' की कर्त्तव्य के रूप में मान्यता पुनः प्रतिष्ठित होगी। अधिकार को आज राजनैतिक स्वार्थ का स्वरूप देकर '**मानवाधिकार**' को सभी देशों में प्रचारित करना और '**मानवकर्त्तव्य**' की चेतना को नितान्त तिरोहित कर देना अन्ततः संभव नहीं है। भारतीय चिन्तन कर्त्तव्य पर बल देता है। '**पूँजीवाद**', '**बाज़ारवाद**' के रूप में पाश्चात्य देश जिस **अपसंस्कृति** का प्रचार कर रहे हैं उसमें सर्वत्र भ्रष्टाचार पनप रहा है क्योंकि **अर्थ** को ईश्वर जैसी सर्वोपरि प्रतिष्ठा दे दी गयी है। मानव-विकास की यह सही दिशा नहीं हो सकती। राजनैतिकता आज अहंकारवश नैतिकता का ध्वंस करती जा रही है क्योंकि स्वार्थ की तात्कालिक सिद्धि के लिए सत्ता को येनकेनप्रकारेण बनाये रखना अनिवार्य होता जा रहा है। लोकहित, आसन्न सामाजिक संघर्ष में, अन्ततः नये परमार्थ के रूप में विजयी होगा, ऐसा मुझे लगता है। **सामाजिक परिवर्तन के लिए 'लोकतंत्र' ही सही दिशा है।**

भारतीय काव्य-शास्त्र भी प्रारम्भ से ही लोक को आधार के रूप में मान्यता देता रहा है। **वक्रोक्ति-सिद्धान्त** के लिए भामह ने जो परिभाषा दी है वह यों ही आविर्भूत नहीं हुई।

'**लोकातिक्रान्तगोचरम्**' की प्रतीति कराने वाली अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति है। स्वभावोक्ति भी उसी में समाहित है। दण्डी ने लोक-चेतना की व्यापकता को ध्यान में रखकर काव्य के लिए स्पष्ट रूप में '**वक्रोक्ति**' के साथ '**स्वभावोक्ति**' को, प्राथमिकता के साथ प्रायः समान मान्यता दी है। यथा---

द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।

'**वाङ्मय**' शब्द '**साहित्य**' अथवा '**काव्य**' से बृहत्तर व्याप्ति रखता है इसीलिए भामह और दण्डी की परिभाषाएँ सुविचारित रूप से उजागर हुई हैं। '**वक्रोक्ति**' अथवा वक्रता मूल्यवत्ता से जुड़ गयी और '**स्वभावोक्ति**' रस की व्यापकता से। आज का साहित्य मूल्य-चेतना को केवल विशिष्ट वर्ग तक सीमित नहीं मानता। वह उसमें व्यापक मानवीय आधार के रूप में लोक-चेतना की विशेष चिन्ता करता है। तुलसी ने उसे शब्द-बद्ध कर दिया है---

परहित सरिस धरम नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई।।
तथा-- **कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।**

यह भावना उदात्त रूप में **'सर्वभूतहितेरतः'** की औपनिषदिक पृष्ठभूमि से अनुप्राणित है जिसे **गीता** ने सर्व-सुलभ बना दिया। भारतीय संस्कृति में **'अद्वैतवाद'** ही **'सर्ववाद'** का रूप ग्रहण कर लेता है। एक प्रकार से उन्हें पर्याय नहीं तो समानार्थी अवश्य कहा जा सकता है। आज लोक-चेतना **'लोकतन्त्र'** के रूप में युग-धर्म बन रही है जिसकी शक्ति की पहचान उसमें अन्तर्व्याप्त विसंगतियों का परिहार करने की ओर उन्मुख राजतन्त्र को भी कृतसंकल्प बना रही है। **'द्वैतवाद'** कदाचित् भक्ति को छोड़कर किसी अन्य क्षेत्र में ग्राह्य नहीं हुआ। तुलसी ने ही मानस में कहा है कि **'भेद-भक्ति'** सर्वोपरि है, विशेषतः साधना के संदर्भ में---

ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद-भगति बर लयऊ।।
अन्यत्र भी-- **ताते नास न होइ दास कर। भेद-भगति बाढ़इ बिहंगवर।।**

'मूल्य' की कल्पना मानव-अस्तित्व को, उसके पूर्ण रूप में स्वीकृत किये बिना संभव नहीं, क्योंकि बोध का विकसित स्तर इसी में उपलब्ध होता है। मानवीय चेतना एवं प्रयत्न के बिना मूल्य-निर्धारण की प्रक्रिया न तो घटित हो सकती है न संचालित। विशेषज्ञों ने 'मूल्य' का तात्विक विश्लेषण करते हुए इस बात का स्पष्ट निर्देश किया है कि आन्तरिक **'मूल्य'**, विभिन्न रूपों में, **वस्तु-आश्रित** न होकर मानवीय इच्छा-आकांक्षा एवं परितोष पर आश्रित रहते हैं। मेरी ही पंक्ति है---

'आकांक्षा शब्द को देती है अर्थ'

इस सूत्रात्मक कवि-कथन में **'अर्थ'** शब्द **'मानव-मूल्य'** का समानार्थी है। सारी सांस्कृतिक उपलब्धि आज इस रूप में ग्रहण की जा रही है जो महत्ता **'धर्म'** को प्राप्त थी वह अब **'मूल्य'** में समाहित हो गयी है। इसमें भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रवृत्तियों का समावेश है जब कि **'धर्म'** आध्यात्मिकता को प्रधानता देता है। **'आकांक्षा'** की कोई सीमा नहीं और न उसका स्वरूप ही सीमित किया जा सकता है। **'संस्कृति'** का समग्र रूप आधुनिक युग में मानव-मूल्य में प्रतिबिम्बित हो रहा है। **'कला'** और **'साहित्य'** भी उसी परिधि में आ जाते हैं परन्तु **'आलोचना'** सीमा-रेखा पर प्रतिष्ठित है। कभी रचनात्मक हो जाती है, कभी विश्लेषणात्मक। मूल्यबोध को प्रखर और प्रदीप्त करने में वह अवश्य अन्यतम

स्थान रखती है। **'सिर चढ़ी रही पाया न हृदय'** की विडम्बना इड़ा और श्रद्धा-पुत्र मानव के परिणय से दूर होती दिखायी देती है। **'समरसता'** संघर्ष के बाद की स्थिति का द्योतन करती है। **'Poets on Painters'** में यही बात दूसरे ढंग से कही गयी है। यथा--- **Marriage between Literature and Painting'** ---Page 148 ।

मनोमय रोगोपचार-दृष्टि

मानव जीवन को राग-रोग अथवा विकार-उपचार की दृष्टि से भी देखा गया है। इस **मनोरोगोपचार-दृष्टि** का भारतीय संस्कृति एवं साहित्य में विशेष विचार हुआ है तथा आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान की मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति ने भी इस रोगोपचार-दृष्टि को नये रूप में रेखांकित किया है। **'दर्पदलन'** के रचयिता आचार्य **क्षेमेन्द्र** इस क्षेत्र में अद्वितीय स्थान रखते हैं। डॉ० कर्ण सिंह ने इसे **निवृत्तिपरक-चिंतन** की विशेषता कहा है जो महात्मा गौतम बुद्ध के हीनयान में तथा महर्षि पतंजलि के योग-शास्त्र में पालि एवं संस्कृत वाङ्मय में रूपग्रहण करती है। वही **रामचरितमानस** के उत्तरकाण्ड में लोक-जीवन में प्रसार पाती रही है। साहित्य समीक्षा भी इस विचारधारा से अछूती नहीं है क्योंकि **गाँधीवादी** तथा **प्रगतिवादी** चिन्तन को भी, नैतिकता पर बल देकर, इसने कुछ दूर तक प्रभावित किया है। वैसे मैं इसे **प्रवृत्तिमार्गी** सौन्दर्यपरक-दृष्टि का विलोम ही मानता हूँ। मूलतः यह निवृत्ति-मार्ग के साथ आदर्शवाद को अधिक महत्व देती है। ऋषियों ने यह भी कहा है--

'प्रवृत्तिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।'

किन्तु दर्पदलन का यह श्लोक रोगोपचार दृष्टि का सुचिन्तित आधार प्रस्तुत करता है---

कुलं वित्तं श्रुतं रूपं शौर्यं दानं तपस्तथा।
प्राधान्येन मनुष्यानां सप्तैते मदहेतवः ॥ १-४ ॥

सामाजिक रोगों का इसमें इतना परिविस्तार किया गया है कि दान और तप जैसी गौरवशाली धर्म-स्वीकृत प्रवृत्तियों को भी मद अथवा अहंकार का उत्पादक मान लिया गया है। षड्विकारों के समानान्तर ही यह सात मदकारी रूप मान लिए गये हैं जब कि यह तत्वतः उनसे भिन्न भी हैं। विद्वानों ने **क्षेमेन्द्र** को **वाल्मीकि, व्यास** और **अश्वघोष** की श्रेणी में रक्खा है जो निराधार नहीं है। वे **अभिनवगुप्त** के

सुयोग्य शिष्य के रूप में विख्यात रहे हैं। **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी** ने उनके **'कला-विलास'** को और **आचार्य बल्देव उपाध्याय** ने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ **'औचित्यविचारचर्चा'** को अंतिम उद्‌भावक सिद्धान्त के रूप में मान्यता प्रदान की है।

लय-बोध का स्वरूप और व्यापकता

जिस तरह, काल का भूत, भविष्य और वर्तमान के रूप में त्रिधा विभाजन काल-प्रवाह को खंडित नहीं करता उसी प्रकार **लय-प्रवाह** की तात्विक स्थिति भी द्रुत, विलम्बित, और मध्य के त्रिधा विभाजन से खंडित नहीं होती और न उस तक सीमित मानी जा सकती है। कवि-कलाकार के मन में लय का उन्मेष कालातीत रूप में प्रस्फुटित होता है जिसका अनुभव सभी रचनाकारों को होता है। उत्तम, मध्यम तथा अधम का कोटि-क्रम भी वस्तुतः इन्हीं तक सीमित नहीं रहता है। तारतम्य के अनेकानेक स्तर हो सकते हैं, होते हैं। विभाजन की प्रक्रिया तत्व-दृष्टि को तिरोहित नहीं करती।

लय का स्वरूप आवर्तन, विवर्तन, प्रसार की सूक्ष्मता तथा मनोजगत् में उसकी तरंगायित योजना से जुड़ा रहता है। एक कंपन दूसरे को और दूसरा तीसरे को गतिमान बनाता है। जहाँ व्यवधान होने लगता है वहाँ गति-भंग, ताल-भंग, लय-भंग की स्थिति सामने आती है। तरलता के कारण मनोजगत् स्वयं क्षति-पूर्ति करता रहता है और नृत्य की विराट् और अखण्ड चेतना सृष्टिव्यापी होकर **लास्य** और **ताण्डव** दोनों को **अर्द्धनारीश्वरत्व** प्रदान करती है। **'नृत्यंताललयाश्रयम्'** तथा **'क्रियान्तर विश्रान्तिः लयः'** सूत्रों से उसके स्वरूप को परिभाषित किया गया है। ताल **कालात्मक** है तथा लय **गत्यात्मक**। दोनों का समन्वित रूप ही संगीत का आधार है। 'नयी कविता' के सम्पादन-क्रम में कविता और गद्य के बीच एक रचनात्मक तात्विक सम्बन्ध-सूत्र के रूप में 'अर्थ-लय' की कल्पना की और उस पर सुचिन्तित रूप से सम्पादकीय लेख भी लिखा, कालान्तर में इस नयी धारणा को व्यापक स्वीकृति भी मिली।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी की व्याख्यान माला में, चौथे अवसर पर व्याख्यानदाता के रूप में **महामहोपाध्याय गंगानाथ झा** का अप्रतिम सहयोग प्राप्त हुआ। **'कवि-रहस्य'** के नाम से प्राचीन कवि-शिक्षा प्रणाली का निरूपण, कविचर्या-राजचर्या सहित प्रकाशित हुआ। प्रारम्भ में उपोद्‌घात के अन्तर्गत अपनी हिन्दी को

'संस्कृत-प्रचुर' कहते हुए हिन्दी-उर्दू को 'खिचड़ी भाषा' कह कर एक भाषावादी विचारपरक व्यंग्य किया। उनकी दृष्टि में दोनों का एक होना असंभव था। आज उनकी भविष्यवाणी इसी मध्यदेश में चरितार्थ हो रही है।

अपने व्याख्यान में उन्होंने **राजशेखर** की **'काव्यमीमांसा'** और **क्षेमेन्द्र** कृत **'कविकंठाभरण'** की नयी धारणाओं का रोचक विवरण प्रस्तुत किया। दोनों की मान्यता थी कि केवल प्रतिमा के सहारे कवि सुकवि या कुकवि भी नहीं हो सकता। कवि-शिक्षा कवित्व-सम्पादन के लिए आवश्यक है। **'चत्वारिश्रृंगास्त्रयोऽस्य पादा'** वाली ऋचा के अनेकार्थी रूप को, बिना अपेक्षित परम्परा-ज्ञान एवं पाण्डित्य के समझा नहीं जा सकता।

राजशेखर की प्रसिद्ध मान्यता है **'स यत् स्वभावः कविः तदनुरूपं काव्यम्।'** आदि-कवि के रूप में वाल्मीकि से पूर्व गीतोक्त **'कवीनामुशना कविः'** के प्रमाण से उशनस् या उशना का स्थान आता है। **'काव्यपुरुष'** के नाम से सरस्वती-पुत्र की कथा में **राजशेखर** ने **'साहित्य-वधू'** की कल्पना की जिसका परिणय उशनस् से हुआ। उनका सिद्धान्त **'सूक्तिधेनुः सरस्वती'** के रूप में जाना जाता है। **वाल्मीकि** का 'मानिषाद' से आरम्भ होने वाला श्लोक शापमूलक है पर **उशनस्** की स्थापना काव्यानन्दपरक है। दोनों की स्थापनाएँ काव्य-विकास में भिन्न धारणाओं में प्रतिफलित हुई, इसमें संदेह नहीं। **रामायण-महाभारत** करुण-काव्य हैं किन्तु **भागवत-गीतगोविन्द** आदि आनन्दप्रद।

शैव-वैष्णव विचारधारा का समन्वित चिन्तन मुझे **हरिहरात्मक रूप** में विशेष प्रभावित करता रहा है। मैंने अखिल भारतीय स्तर पर **हरिहरात्मक** प्रतिमाओं तथा शिल्प-शास्त्रीय उल्लेख का शोधात्मक अनुशीलन कराया और पाया कि समन्वय की यह धारा देश की सांस्कृतिक एकता की मूल धारा है। शिव के साथ शक्ति और गणेश की पूजा उत्तरोत्तर विकसित होती गयी। **ब्रह्मा** का स्थान **सरस्वती** ने ग्रहण कर लिया। **कालिदास** के समय से ही उसकी विशेष मान्यता के प्रमाण साहित्य और शिल्प दोनों में मिलते हैं। संगीत के साथ **वाङ्मयी मूर्ति**, नाद के साथ अर्थ, अद्भुत कल्पना है, इस देश की। **संगीतमथ साहित्यं सरस्वत्याः कुच द्वयम्।**

पाश्चात् चिन्तन केवल हमें प्रभावित ही नहीं कर रहा है वरन् स्वयं प्रभावित भी हो रहा है। प्राचीन मूल्यों की प्रासंगिकता अनेक दिशाओं में उजागर हो रही है। गीता की कर्म प्रधान जीवन-दृष्टि आज के व्यावहारिक युग में विशेष उपयोगी

मानी जाने लगी है। **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'**। जीवन में **'स्व'** और **'पर'** की विवेकपूर्ण दृष्टि ही भारतीयता को परिभाषित करती है।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विद्यालय द्वारा वर्तमान संवत्सर में प्रकाशित ग्रंथों में **प्रो० गोविन्द चन्द्र पाण्डे** द्वारा रचित **'भक्तिदर्शन विमर्शः'** तथा **'अस्ताचलीयम्'** का उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि उनकी लेखन-वृत्ति कितनी दिशाओं में निरन्तर गतिशील रही है। **संस्कृति-चिन्तन** उनका केन्द्रीय चिन्तन रहा है। कला, पुरातत्व, भाषा, दर्शन तथा साहित्य के स्वदेशी-विदेशी स्वरूपों का उन्होंने गंभीर अनुशीलन किया है।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी को उन्होंने सुचिन्तित व्याख्यानों से कृतार्थ किया इसके लिए मैं अध्यक्ष-रूप में विशेष आभारी हूँ। उन्होंने अनेक जटिल समस्याओं का समाधान किया है तथा कठिन प्रश्नों का उत्तर खोजने में हमारी सहायता की है। मनीषियों को यह प्रकाशन प्रीतिकर लगेगा तथा इससे ज्ञान-समृद्धि की प्रतीति भी होगी। **इत्यलम्।**

--- जगदीश गुप्त
अध्यक्ष
हिन्दुस्तानी एकेडेमी

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा व्याख्यान माला

व्याख्यान-१

सौन्दर्यशास्त्रविषयक अनुचिन्तन

साहित्य का परिशीलन उसके गुण-दोष-विवेचन के साथ जुड़ा है, और उस मूल्यांकन में उक्त अथवा अनुक्त रूप से कुछ ऐसी सामान्य धारणाएं पूर्व स्वीकृत रहती हैं जो आधारभूत होते हुए भी विशिष्ट मूल्यांकनों के संदर्भ में युक्तियुक्त रूप से प्रतिपादित नहीं की जातीं। उदाहरण के लिए इन दो वाक्यों को देखिए - "इस कविता में **जो घपलापन** उसका कारण अन्दर और बाहर दोनों जगतों में थोड़ा-थोड़ा एकान्तरमय संघटन बनाए रखने का लालच है।"[१] "अंधेरे में" कविता की ये अन्तिम पंक्तियां उस अस्मिता या आइडेन्टिटी की खोज की ओर संकेत करती हैं जो आधुनिक मानव की सब से ज्वलंत समस्या है।"[२] **"घपलापन"** सौन्दर्यशास्त्रीय संप्रत्यय-व्यवस्था का आक्षेप करता है, "आधुनिक मानव" सांस्कृतिक-ऐतिहासिक समझ का। इस प्रकार की पूर्व स्वीकृत अवधारणाओं को स्थूल रूप से जिन दो विभागों में बाँट कर ऊपर उदाहृत किया गया है, उन्हीं से सम्बद्ध कुछ विवेचन यहाँ प्रस्तुत है। वह स्वयं साहित्यालोचन नहीं है किन्तु उसे साहित्यालोचन की भूमिका के रूप में समझा जा सकता है।

अपने व्यापक अर्थ में साहित्य वाङ्मय मात्र का वाचक है किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में उसका प्रयोग प्राचीन 'काव्य' अथवा आधुनिक 'ललित साहित्य' के अर्थ में अभिप्रेत है। इस प्रकार से अवधारित साहित्यिक कृति स्वयं एक कलाकृति होती है और उसका तात्पर्य तथ्य-सूचनामात्र नहीं समझा जा सकता। साहित्यिक अथवा कलाकृति अपने में एक विशिष्ट प्रकार के मूल्य को मूर्त करती है जिसे श्रोता या दर्शक सम्यक् प्रतीति के विषय के रूप में ग्रहण कर लेता है। आलोचनात्मक प्रतीतिमात्र से ग्राह्य इन कृतियों में अन्य किसी प्रकार का उपयोग या उपभोग अभिप्रेत नहीं रहता है, यही उनके लालित्य का अर्थ है। अपने आलोच्य या भाव्य ज्ञानमात्र से इच्छा-निरपेक्ष सुख का हेतु होना साहित्यिक मूल्यांकन के विषय का एक पक्ष है और वह स्पष्ट ही अन्य ललित कलाओं के मूल्यांकन के विषय से न्यूनाधिक रूप में समान एवं तुलनीय है। इस पक्ष के अन्तर्गत मूल्यांकन के व्यापक तत्वों का विमर्श ही सौन्दर्यशास्त्र का प्रधान कार्य है। इस व्याख्यान में प्रथमतः साहित्यिक मूल्यांकन का यह व्यापक और तात्विक

१ विपिन कुमार अग्रवाल, उद्धृत, नामवर सिंह, *कविता के नये प्रतिमान*, पृ० १६४।

२ नामवर सिंह, *पूर्वोद्धृत*, पृ० २२१।

सौन्दर्यशास्त्रीय पक्ष ही मुख्यतया विचार के लिए प्रस्तुत है। साहित्यकारों अथवा साहित्यिक कृतियों के अलग-अलग या तुलनात्मक विवेचन के स्थान पर उनके विवेचन की संभावना, उसके आधार और तार्किक प्रक्रिया का विवेचन ही इस प्रकार यहाँ अभीष्ट है। "सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसवदास" जैसी उक्ति के विषय में एक प्रश्न तो यह हो सकता है कि क्या उसमें व्यक्त तुलनात्मक निर्णय प्रामाणिक है, किन्तु एक दूसरा प्रश्न यह किया जा सकता है कि कविता के मूल्यांकन को व्यक्त करने वाले निर्णय किस अर्थ में प्रामाणिक हो सकते हैं। क्या उनकी प्रामाणिकता वस्तु-विषयक ज्ञान की प्रामाणिकता से तुलनीय है, अथवा वे सिर्फ व्यक्तिगत या सामाजिक रुचि के प्रदर्शक हैं, और उनकी प्रामाणिकता एक प्रदत्त सहृदयता या संवेदनात्मक संस्कारों को पूर्वाक्षिप्त कर उनके अविसंवादन से अभिन्न है? इस दूसरे प्रकार के प्रश्न ही सौन्दर्यशास्त्रीय विचार के प्रश्न बनते हैं। उन्हीं पर मैं ध्यान केन्द्रित करना चाहता हूँ।

यहाँ दो आपत्तियाँ अनायास उठायी जा सकती हैं। एक तो यह कि साहित्य और कलाओं में इतना अन्तर है कि दोनों के अनुगत तत्व उनमें से किसी के लिए भी प्रधान नहीं हो पाएंगे। सुतरां उन पर आधारित शास्त्र में गम्भीरता न आ सकेगी। दूसरी आपत्ति यह दुर्निवार प्रतीत होती है कि यदि सौन्दर्यशास्त्र के तात्विक स्तर पर विचार होगा तो उसमें सांस्कृतिक-साहित्यिक इतिहास उतना ही अप्रासंगिक होगा जितना ज्ञानमीमांसा या तत्वमीमांसा के स्तर पर और उससे किसी साहित्यिक कृति की विशिष्टता समझने में कोई सहायता न होगी। पहली आपत्ति इस बात को रेखांकित करती है कि भाषात्मक होने से साहित्य सार्थक होता है जब कि अन्य कलाएं विशुद्ध ऐन्द्रिय आभासों की सूचनाएं होने से रूपात्मक हैं और स्वरूपतः अर्थ से असंबद्ध। किसी साहित्यिक कृति के दो पक्षों का यहाँ पर उल्लेख किया जा सकता है - एक उसका बाह्य संकेतात्मक रूप जो प्रत्यक्ष गृहीत होता है, दूसरा उसका "अर्थ" जो रूप के द्वारा भावित होता है। इस प्रकार का द्वैत कला के विषय में संदिग्ध है। उदाहरण के लिए काव्य का प्रत्यक्ष रूप या शरीर एक सार्थक शब्द - राशि होता है जब कि संगीत का ध्वनिमय, चित्र का रंग और आकार। साहित्यिक कृतियों में अर्थ आलोच्य एवं भाव्य होता है, यह प्रायः निर्विवाद है, पर संगीत और चित्रकला के विषय में इसे एकमत से संदिग्ध कहा जा सकता है।[१]

संगीत के विषय में तो यह मत प्रबल रूप से प्रतिपादित किया गया है कि

१ तु० क्लाइव बैल, *आर्ट* (लंदन,१९१४); रोजर फ्राइड, *विजन एंड डिजाइन* (लंदन,१९२०)।

वह नाद की रंजकता में ही सम्पूर्ण हो जाता है[1]। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि पद-गान अथवा गीत के रूप में अवश्य संगीत भावात्मक अर्थ-प्रतीति से जुड़ जाता है। जयदेव, मीरा, सूरदास आदि भक्तों के पदों का गान अथवा त्यागराज-सदृश दाक्षिणात्य वाग्गेयकारों की कृतियों का गान उसमें प्रस्तुत अर्थ के योग से ही समझा जा सकता है। भक्ति-संगीत के समान ही ठुमरी अथवा गजल की स्थिति है। रवीन्द्र संगीत और लोक संगीत भी सार्थक और भाव प्रधान होते हैं। सामगान ऋचाओं को लेकर ही प्रवृत्त होता था। गान्धर्व में स्वर, ताल और अवधान के साथ ही पद का स्थान निश्चित था। बाद की शास्त्रीय परम्परा में भी गायक पद के सहारे स्वर, ताल आदि की योजना से राग की अभिव्यक्ति भावसंपृक्त रूप में ही प्रायः करते थे। वाद्य यंत्रों को इस गान का सहायक या प्रतिबिम्ब-व्यंजक ही प्रायः माना जाता था। इसके विरुद्ध यह स्मरणीय है कि पदहीन स्वर-योजना के रूप में शुष्कसंगीत, संगीत का सुविदित रूप था। सभी शास्त्रीय गान में आलाप एवं तान के रूप में सौन्दर्य अथवा निपुणता के प्रदर्शन के लिए स्वरों के प्रयोग का भी प्रचलन रहा है। पाश्चात्य संगीत में वाद्य यंत्रों के पदमुक्त संगीत का प्राधान्य देखा जाता है, यद्यपि वहाँ भी संगीत की वस्तुओं के नामकरण से एक प्रकार की सविषयता या साभिप्रायता ध्वनित होती है। वैसे भी सभी संगीत किसी न किसी सामाजिक अवसर, प्रयोजन या मनोवृत्ति से जुड़ा हुआ उपलब्ध होता है। इन संबन्धों की युक्तता संगीत में अवश्य ही एक प्रकार की सार्थकता आपादित करती है। प्राचीन परम्परा में स्वर, राग आदि का भाव और रस से सम्बन्ध स्वीकार किया जाता था,[2] यद्यपि यह विवादित रहता है कि यह सार्थकता संगीत की स्वरूपनिष्ठ है अथवा आरोपित और आगन्तुक।

इन सब युक्तियों के विरोध में दो तर्क मुख्यतया दिये जा सकते हैं। एक तो यह है कि संगीत का विशिष्ट गुण, उसकी विलक्षण रंजकता, सिर्फ श्रव्य विषयगत उत्कर्ष पर निर्भर करती है, वह किसी प्रकार के स्वातिरिक्त अर्थ की अपेक्षा नहीं करती। यदि अर्थ से वाच्यार्थ हो जो कि विकल्पित अर्थ अर्थात् प्रत्ययार्थ या अध्यवसेय वाक्यार्थ हो तो यह सही है कि इस प्रकार का अर्थ स्वर-ताल योजनात्मक संगीत का अन्तरंग नहीं है। स्पन्दनविशेष से युक्त नाद की प्रतीति बिना किसी प्रकार की अर्थ-प्रतीति को अपना द्वार बनाए साक्षात् रूप से ही रंजक होती है। ऐसे ही यद्यपि यह सही है चित्र में प्रस्तुत रूप वस्तु-प्रतिरूप से ही रंजक होते हैं, और अतएव उनमें सादृश्य का तत्व महत्वपूर्ण माना गया है, तो भी चित्रों

१ तु० सुसान लैंगर, फ़िलॉसफ़ी इन ए न्यू की (मेन्टर), पृ० १६५।
२ द्र० प्रेमलता शर्मा, *रस-सिद्धान्त* (१९८८) पृ० ४६-५१।

को यथार्थ अनुकृति मानने की भ्रान्ति इस बात से सिद्ध हो जाती है कि कैमरे का छायांकन (**फोटो डौकुमेन्टैशन**) अपने आप में प्रतिकृतिमात्र से कला नहीं बनता। जैसे पदहीन या निर्गीत, शुष्क स्वर-योजना संभव है, ऐसे ही निर्विषय चित्र भी मिलते हैं जिनमें रंगों या आकारों की योजना ही प्रधानता प्राप्त करती है। यह तर्क किया जा सकता है कि जैसे संगीत में आदर्शित सौन्दर्य की विशेषता स्वरादि पर मूलतः निर्भर करती है, न कि तत्संयोजित गीत-पद पर, ऐसे ही चित्र की अनुभूति भी मूलतः जिस दृश्य रूप पर निर्भर करती है उसमें अनुकृति या सादृश्य की भूमिका अनिवार्य नहीं है।

इस प्रकार यह आपत्ति स्थिर रहती प्रतीत होती है कि कला में रूप का पक्ष ही विशिष्ट है और उसमें या तो संप्रेष्य अर्थ का अभाव है या वह अप्रधान है,और इसलिए कलानुभूति और साहित्यानुभूति में समान तात्विक विश्लेषण को अयुक्त ठहराने के लिए अन्तर बहुत अधिक है। कलादर्शन रूपविषयक निर्णयों का दर्शन होगा जब कि साहित्यमीमांसा अनिवार्यतया सार्थकता के प्रश्न से बंधी रहती हैं।

इस स्थिति में तीन विकल्प स्पष्ट प्रतीत होते हैं। एक तो यह कि अभिज्ञ सहृदय के लिए साहित्य का भी सार उसकी कलात्मकता में माना जाए। उदाहरण के लिए फोर्स्टर उपन्यास में एक निगूढ **प्रगीतात्मकता** का संकेत पाते हैं।[१] मेटरलिंक की एक प्रसिद्ध उक्ति है कि "सभी कलाएं अंततः संगीत की अवस्था प्राप्त करना चाहती हैं।" प्राचीन आलंकारिक गण पद-संघटना एवं **वाक्य-रचना** के अपूर्व प्रकारों को काव्य-सौन्दर्य के हेतु मानते थे। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकेगा कि साहित्य भी अन्य कलाओं की भाँति एक चमत्कारी रूप-प्रस्तुति मात्र है। यह कलात्मकता उस अलंकार-सर्वस्वता से भिन्न नहीं की जा सकती जिसमें अलंकार और अलंकार्य का भेद वस्तु-भेद नहीं है। सौन्दर्य की प्रत्यायक रूप-योजना ही अलंकरण है और उसमें अलंकार-अलंकार्य-भेद रूप के अन्तर्गत अवयव-अवयवी के भेद से अनतिरिक्त है। कलात्मकता के इस प्रकार परिभाषित होने पर रूप-योजना के सिद्धान्तों का शास्त्र सौन्दर्यशास्त्र होगा, और वह साहित्य एवं कलाओं में समान होगा, ऐसी कल्पना सावकाश प्रतीत होती है।

इस प्रकार की दृष्टि प्रयोग में बहुत बार देखी जा सकती है। जब कोई उस्ताद खयाल या ठुमरी में भावात्मक गीत को रूप देने के स्थान पर उसे तानों की कड़कती चाँदमारी से पेश करते हैं तो उसमें भाव की अप्रासंगिकता ही समझी जा सकती है। प्राचीन महाकवियों के चित्रबन्ध आदि इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं।

१ *ऐस्पेक्ट्स ऑव द नौवेल* (१९२७)।

बाण-विषयक प्रसिद्ध किंवदन्ती में "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे" को अकाव्य और "नीरसतरूरिह विलसति पुरतः" को जो काव्य माना गया है, उसमें आस्वाद्यता का मूल अलंकरण ही है। **लक्षणवाद** या **फार्मेलिज़्म** कलात्मकतावाद या **ईस्थैटिसिज्म** इस रूप-प्रस्तुति-परक दृष्टि के भेद हैं।

साहित्य के विषय में इस मत की भ्रान्तता सिद्ध करने के लिए इस युक्ति पर विचार पर्याप्त हैं कि भाषा स्वरूपतः सार्थक होती है और अतएव साहित्य का कोई भी प्रयोग अर्थ-निरपेक्ष नहीं होता। अलंकार, गुण-दोष, रीति और रचना सभी में शब्द से लेकर प्रबन्ध तक अर्थ की भूमिका अनिवार्यतया मिलती है। यह कहा गया है कि अर्थ की उपेक्षा करती हुई भाषा का भी साहित्य में सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया है। "अयं वन्ध्यासुतो याति ख-पुष्प-कृत शेखरः" इस पक्ति को काव्य-कोटि में रखा जा सकता है पर इसमें असंगति के कारण वाक्य ही नहीं बन पाता। समकालीन कविता से इस प्रकार के उदाहरण चुनने में शायद किसी को भी कठिनाई न होगी। जेम्स जोयस के **फिनेगेन्स वेक** में इस प्रकार के वाक्यों की भरमार है जिनमें भाषा के सामान्य नियम अपर्याप्त सिद्ध होते हैं। पर इस प्रकार के उदाहरणों से यही सिद्ध होता है कि साहित्य की भाषा सदा व्यवहार की भाषा नहीं होती और न उसकी सार्थकता वाच्यार्थ के क्षेत्र तक सीमित है।

यदि साहित्य के लिए अर्थ-निरपेक्ष कलात्मक पर्याप्त नहीं है तो एक दूसरा विकल्प यह है कि कला को भी सार्थकता से जोड़ा जाए। एक प्रसिद्ध मत है कि कला में निश्चित वाच्यार्थ न होते हुए भी उसमें एक अस्फुट भावात्मक व्यंग्यार्थ होता है।[1] कलाकृति में प्रस्तुत रूप स्वयं निश्चित भाव के उद्बोधन में असमर्थ होते हुए भी भाव का उद्दीपन और आलम्बन बनता देखा जाता है। बिलासखानी के साथ शोक, बहार के साथ हर्ष को जोड़ना कठिन नहीं है। पर निश्चित अर्थ की अभिव्यक्ति की दृष्टि से कलाएं एक असमर्थता से ग्रस्त दीखती हैं। जैसे प्राकृतिक सौन्दर्य कुछ कहना चाहता है पर कह नहीं पाता, ऐसे ही कलाएं भी भाव के साथ एक अद्भुत और रहस्यमय ढंग से जुड़ जाती हैं पर उसे स्पष्टतया निर्धारित नहीं कर पातीं। हेगेल जैसे विचारक इसीलिए कलाओं को साहित्य, ज्ञान और दर्शन की तुलना में अनुभव और कृतित्व का एक अपूर्ण प्रकार मानते हैं।[2]

पर यहाँ भी वस्तुतः अर्थ को विकल्पात्मक रूप में लिया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। कलाकृति के अन्तर्निहित अर्थ को विकल्प-बुद्धि के लिए अध्यवसेय

१ तु० सुसान लैंगर, फॉर्म एन्ड फ्रीलिंग (रूटलेज, १६७६), पृ० २६, और आगे।

२ हेगेल ईस्थैटिक, (बर्लीन,१६५५) पृ०५६; चार्ल्स टेलर, हेगेल (ओ०यू०प०) पृ०४७८-७६।

विषय समझने की कोई अनिवार्यता नहीं है। न तो कला इन्द्रिय-प्रदत्त रूप में गूंगे के स्वाद के समान पर्यवसित होती है, न वह ऐसे अर्थ की विवक्षा करती है जिसके संप्रेषण में वह स्वरूपतः असमर्थ है। वस्तुतः कलात्मक रूप में एक अतर्क्य और स्वगत सांकेतिकता रहती है जो भावात्मक अविकल्पित अर्थ को व्यक्त करने में समर्थ है। भाषा-निबद्ध और विकल्प-सन्दर्भित होते हुए भी साहित्य में इसी प्रकार के भावात्मक अर्थ का प्राधान्य कल्पनीय है।

इस प्रकार कला और साहित्य दोनों में ही दो पक्ष मिलते हैं, एक सांकेतिक रूप का, दूसरे उससे गम्य प्रतीति का, जो विकल्प से कभी जुड़ी होने पर भी अन्ततः भावात्मक होती है। साहित्य में विचार-सन्दर्भ की महत्वपूर्ण भूमिका के बावजूद सर्वत्र ही रचना और रूप, संकेत और अर्थ, आस्वादन और विवेचन के तत्व मिलते हैं। इन्हीं को विषय बनाकर सौन्दर्यशास्त्र की संरचना होती है।

अब पहले कही हुई दूसरी आपत्ति पर विचार आवश्यक हो जाता है। यदि कला और साहित्य के तत्व महत्वपूर्ण रूप से उनमें अनुगत हैं तो एक सार्वभौम शास्त्र के रूप में सौन्दर्यशास्त्र को अन्य विज्ञानों के समान इतिहास-निरपेक्ष होना चाहिए और सभी कलाओं और साहित्य का उसे एक सार्वभौम आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए। पर यह विचारणीय है कि क्या इस प्रकार का शास्त्र निष्पन्न अथवा निष्पाद्य रूप में उपलब्ध है।

विद्या और दर्शन के रूप में सौन्दर्य-मीमांसा की सांस्कृतिक और दृष्टि-मूलक सापेक्षताः

अनेकत्र यह पढ़ा सुना जाता है कि सौन्दर्यमीमांसा या ईस्थैटिक्स की कोई निश्चित शास्त्रीय परम्परा भारत में नहीं पायी जाती। स्वयं "सौन्दर्यमीमांसा" या "सौन्दर्यशास्त्र", ये शब्द भी ईस्थैटिक्स के अनुवाद के रूप में गढ़े गये हैं। अलंकारशास्त्र, नाट्यशास्त्र, शिल्पशास्त्र, साहित्यशास्त्र आदि अनेक शास्त्र भारतीय परम्परा में उपलब्ध होते हैं। सौन्दर्य की अर्थतः चर्चा इन सभी शास्त्रों में मिलती है। वामन ने तो अलंकार का अर्थ ही सौन्दर्य बताया है, जगन्नाथ पंडितराज ने काव्यार्थ की विशेषता "रमणीयता" बतायी है जो कि सौन्दर्य का पर्यायवाची शब्द है। सौन्दर्य और कलातत्व की सर्वांगीण और व्यवस्थित दार्शनिक मीमांसा के रूप में एक पृथक् शास्त्रीय प्रस्थान अवश्य ही प्राचीन भारतीय परम्परा के अवशिष्ट साहित्य में नहीं मिलता पर इस प्रकार का शास्त्र पश्चिम में भी पहले नहीं था। उसकी उद्भावना १८वीं सदी में बाउमगार्टन के द्वारा सर्वप्रथम हुई, यह सुविदित है। किन्तु यह कहना सही नहीं होगा कि इस कारण इस विषय के चिंतन का ही महत्वपूर्ण प्रारम्भ तभी से मानना चाहिए। प्लातोन और अरस्तू इस विषय के

जाने-माने विचारक हैं पर उन्होंने **ईस्थैटिक्स** नाम के अलग शास्त्र की कल्पना नहीं की। वस्तुतः कलाओं अथवा विद्याओं का प्राविभाजन सार्वभौम रूप में नहीं मिलता है। उसमें स्पष्ट ही एक संस्कृति-सापेक्षता देखी जा सकती है। कला, विद्या आदि प्रकृति-प्रदत्त पदार्थ न होकर सांस्कृतिक अवधारणाएं हैं। यह कादाचित्क या आगन्तुक तथ्य नहीं है, अपितु एक अनिवार्यता है क्योंकि कला, विद्या आदि सांस्कृतिक अनुभव के ही आत्मपरामर्शात्मक विकल्प हैं। इसका परिणाम यह है कि **ईस्थैटिक्स** को अपने वर्तमान रूप में सर्वत्र की पाने चेष्टा वृथा है और इससे यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता कि **ईस्थैटिक्स** की वर्तमान अवधारणा ही सही है या कि वह ज्ञान-विज्ञान की परम्परा में ऐसी क्रान्ति को सूचित करती है जो पिछली अवधारणाओं को प्रामाणिक रूप से निरस्त कर देती है। फलतः एक **ईस्थैटिक** के स्थान पर अर्थतः अनेक **ईस्थैटिक्स** देखी जा सकती है जिनके विषय और दृष्टिकोण सर्वथा एक नहीं हैं। संस्कृति के समानान्तर अनुभवों को अपना विषय बनाने के कारण इन सभी शास्त्रों में एक प्रकार की अर्थतः सजातीयता देखी जा सकती है। उनकी विषय-वस्तु में सर्वात्मना अभेद न होने पर भी आंशिक तादात्म्य मिलता है।

सौन्दर्यमीमांसा की सांस्कृतिक सापेक्षता के इस मत पर अनेक आपत्तियां की जा सकती हैं। यह कहा जा सकता है कि ज्ञानात्मक शास्त्रों या विधाओं में सांस्कृतिक प्रभाव उनके सतही स्तर पर ही रहता है क्यों कि उनका वास्तविक आधार सार्वभौम प्रमाण-व्यापार है। जैसे गणित में सांस्कृतिक भेद शैलीगत अथवा वैकासिक स्तरगत होता है, न कि तात्विक, इसी प्रकार अन्य विद्याओं में भी समझना चाहिए। दूसरे, न तो संस्कृतियाँ अपने अन्दर एकरूप होती हैं, न परस्पर सर्वथा व्यावृत्त। उनमें आदान-प्रदान और आंशिक व्याप्ति देखी जाती है। फलतः कालक्रम में नाना संस्कृतियों के अन्तराल से विकास का सूत्र पकड़ा जा सकता है। उदाहरण के लिए यह एक व्यापक मान्यता है कि पश्चिम में हजारों वर्षों के इतिहास के परिणाम-स्वरूप आधुनिक संस्कृति का विकास हुआ है जिसने पिछली सभी वास्तविक उपलब्धियाँ अपनाकर उनसे आगे प्रगति के चरण रखे हैं। प्रगति को अब क्रमशः एकीकृत समस्त मानवता की ही उपलब्धि मानी जानी चाहिए। १८वीं सदी से जिन नयी विधाओं का विकास हुआ है उनमें एक अपूर्व आलोचनात्मक और वैज्ञानिक दृष्टि देखी जा सकती है जो पिछले युगों की श्रद्धा-कल्पना-बहुल दृष्टि से भिन्न है। मनुष्य और मानव जीवन स्वयं आलोचनात्मक वैज्ञानिक विचार के विषय बन गये हैं और इस प्रकार समाज और संस्कृति के विज्ञान की विधाओं का जन्म हुआ है। दार्शनिक चिन्तन भी क्रमशः स्वरूपतः

अदृश्य एवं लोकोत्तर तत्वों की खोज से निकल कर लौकिक मानवीय अनुभव और ज्ञान के तार्किक आधार और संरचनात्मक तत्वों के अनुसंधान में लगा है। तार्किक और वैज्ञानिक विधि के समान ही सौन्दर्य और कला का अनुभव और कृतित्व भी दार्शनिक विचार के विषय बने हैं। ह्यूम और कांट के बाद से निश्चित ज्ञान का क्षेत्र इन्द्रियगोचर वस्तुजगत् तक प्रायः सीमित मान लिया गया है। इस प्रकार वस्तु से भिन्न मूल्यतत्व के विभिन्न आयामों के विश्लेषण की एक शाखा के रूप में सौन्दर्यमीमांसा का विकास हुआ है। प्रचलित प्रतिपादन के अनुसार यह मीमांसा सौन्दर्यानुभूति के मनोविज्ञान अथवा कलाविधाओं के तथ्यवर्णनात्मक लक्षण-निरूपण या विधि-निरूपण से भिन्न है। विशिष्ट कलाकृतियों के मूल्यांकन की समीक्षा से भी वह भिन्न है। एक प्रविभक्त पर व्यापक विश्लेषणात्मक दर्शनविधा के रूप में सौन्दर्यमीमांसा न सिर्फ अपेक्षाकृत अर्वाचीन है बल्कि ज्ञान के इतिहास में एक नयी दिशा का निदर्शन है। इसलिए यह तर्क किया जा सकता है कि आधुनिक **ईस्थैटिक्स** की अद्वितीयता और ज्ञानविधा के रूप में निरपेक्षता अक्षत रहती है।

इन तर्कों के वस्तुतः प्रासंगिक अंशों का उत्तर कठिन नहीं है। वस्तुविज्ञान को सारांश में संस्कृति-निरपेक्ष और विकासशील मान लेने पर भी दर्शन को उस कोटि में नहीं रखा जा सकता। आधुनिक दर्शन के प्रवर प्रवर्तकों में देकार्त और कांट ने दर्शन की विज्ञान से नितांत भिन्न, परस्पर व्याहत और अप्रगतिशील स्थिति पर टिप्पणी की है कि उसने अभी तक विज्ञान से तुलनीय निश्चित पद्धति प्राप्त नहीं की। जहाँ विज्ञान यथास्थित वस्तुतत्व का प्रमाणों के द्वारा अनुसंधान करता है, दर्शन कम से कम अनुभव, ज्ञान और विज्ञान की प्रत्ययात्मक संरचनाओं और तार्किक आधार का विश्लेषणात्मक स्पष्टीकरण करता है। इससे अतिरिक्त दर्शन कुछ कर सकता है अथवा नहीं, यह स्वयं दार्शनिक विवाद का विषय है जैसे कि यह कि तथ्य, तत्व और प्रत्यय में क्या संबन्ध है। प्रत्येक दार्शनिक प्रस्थान किसी न किसी मूलभूत दृष्टि पर आधारित देखा जा सकता है क्योंकि उसकी तार्किक विचार-प्रणाली ऐसी आरम्भिक या मूल प्रतिपत्तियों का पूर्वाभ्युपगम करती है जो स्वयं उसकी उपपत्तियों का विषय नहीं बनतीं। कदाचित् यह कहा जाए कि ये मूल दृष्टियाँ मनुष्य मात्र के अनुभव की तार्किक संभावनाओं के रूप में वैकल्पिक रचनाएं हैं तो भी उनमें से चुनने के लिए तर्क के अतिरिक्त कुछ अनुभवात्मक आधार चाहिए। नैयायिकों ने यह स्पष्ट किया है कि तार्किक अन्वीक्षा को प्रत्यक्ष अथवा आगम का आधार चाहिए और फिर दार्शनिक रचनाएँ नितान्त तार्किक ही नहीं होतीं क्योंकि उनमें वस्तुसत्ता, मूल्यतत्व एवं स्वयं तर्क और ज्ञान के विषय में भी कल्पनाएं होती हैं। इन कल्पनाओं से निर्मित दृष्टियाँ दार्शनिक आलोचन में

पूर्वप्रदत्त रहती हैं, और यद्यपि बहुधा दार्शनिक उनको निगमित कर के प्रदर्शित करते हैं, वस्तुतः वे आगमित ही रहती हैं, उदाहरण के लिए कांट के द्वारा स्वीकृत यह स्कोलैस्टिक सूत्र कि बौद्धिक ज्ञान के विषय इन्द्रियद्वार में पूर्वप्रदत्त होते हैं। इन दृष्टियों को प्रत्यक्ष अनुभव का अनुवाद नहीं माना जा सकता, अन्यथा उनके परस्पर व्याहत भेद श्रद्धा के विषय नहीं बनते। उन्हें सांस्कृतिक अनुभूति के ही परामर्शात्मक विकल्प मानना युक्त प्रतीत होता है। इस सांस्कृतिक सापेक्षता का यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक संस्कृति का अपना कोई एक अलग दर्शन होता है क्योंकि प्रत्येक संस्कृति में अनेक प्रवृत्तियाँ मिलती हैं और उनके अनुकूल अनेक दर्शन। संस्कृतियों का पारस्परिक आदान-प्रदान और आंशिक समानता भी अप्रत्याख्येय है और इसीलिए दर्शन का इतिहास भेद और अभेद के सूत्रों से उलझा हुआ है। तो भी यह निर्विवाद है कि दार्शनों की प्रवृत्तियाँ सांस्कृतिक प्रवृत्तियों से अलग रख कर नहीं समझी जा सकती हैं।

मैं यहाँ स्पष्ट करना चाहता हूँ कि "संस्कृति" से मेरा तात्पर्य इस प्रसंग में ऐतिहासिक महासंस्कृति या सभ्यता से नहीं है बल्कि उस प्रकार की समष्टियों के अन्तर्गत ज्ञान, रुचि, प्रवृत्ति और विवेकमूलक दृष्टि की परम्पराओं से है जो सामाजिक, शैक्षणिक, धार्मिक संस्थाओं के साथ नियामक के रूप में जुड़ी रहती हैं। कभी-कभी ये प्रवृत्तियाँ अंशतः समन्वित होकर सभ्यता को भी विशिष्ट रूप में आकारित करती हैं। उदाहरण के लिए ब्रिटिश अनुभववाद या अमरीकी प्रैग्मेटिज्म या जर्मन आदर्शवाद आधुनिकता के व्यापक परिवेश के अन्दर भी ऐसे दृष्टि-भेद प्रकट करते हैं जो विभिन्न सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करते हैं और जिनसे अंशतः समानान्तर प्रवृत्तियाँ अन्य युगों में भी उपलब्ध होती हैं। प्राचीन यूनानी और आधुनिक जर्मन आदर्शवाद को विभक्त करने में ईसाइयत और इतिहास बोध दोनों का ही हाथ है। अस्तित्ववाद का मृत्युबोध और लॉजिकल पोजेटिविज्म की विज्ञान में आस्था उनके दृष्टि-भेद को उत्पन्न करने वाले सांस्कृतिक संदर्भों के उदाहरण हैं। भारतीय, चीनी, अरब दार्शनिक परम्पराओं में उनकी संस्कृतियों का अनुवेध सभी पाश्चात्य द्रष्टाओं को प्रत्यक्ष होता है। अपनी संस्कृति को सहज रूप से स्वीकारने या उसे सार्वभौम मानने के कारण उन द्रष्टाओं को अपनी दार्शनिक प्रवृत्तियों में उस प्रकार का अनुवेध नहीं दीखता या अखरता।

दार्शनिक प्रस्थानों के पीछे दृष्टिभेद और संस्कृति-भेद की भूमिका है, यह मत, कुछ दार्शनिकों ने भी पहले स्वीकारा है, यह कहना अनावश्यक है। हेगेल और मार्क्स के नाम अनायास याद दिलाये जा सकते हैं। भारतीय परम्परा में भी बौद्ध वासनाभेद, जैन नयभेद, अभिनवगुप्त के तत्व-सोपान-भेद और मधुसूदन

सरस्वती के प्रस्थान-भेद के सिद्धान्तों में इसी प्रकार की दृष्टि पायी जाती है। म० म० गोपीनाथ कविराज ने इसकी चर्चा की है और प्रकारान्तर से म० म० रामावतार शर्मा में भी इसका स्वीकार देखा जा सकता है।[१]

सामान्यतया दर्शन का अध्ययन तार्किक संभावनाओं के संदर्भ में किया जाता है। उदाहरण के लिए गंगेश ने व्याप्ति के कुछ संभावित लक्षणों के खंडन द्वारा अपने सिद्धान्त की स्थापना की है। पर उन पूर्वपक्षों का यदि इतिहास पता हो तो अवश्य ही उनकी सार्थकता पर प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए व्याप्ति के अव्यभिचारात्मक लक्षण का बौद्ध न्याय और दृष्टि से मौलिक सम्बन्ध जानने पर इस कल्पना के यथार्थ उपष्टम्भक का पता चलता है।

यह कहा जा सकता है कि दर्शन के आधुनिक परिशीलन में युक्तियों और वादों का इतिहास प्रस्तुत किया जाता है किन्तु इससे किसी दर्शन के तार्किक मूल्यांकन में अन्तर नहीं पड़ता। उदाहरण के लिए बरट्रेंड रसल के दार्शनिक इतिहास में अधिकांश पुराने दर्शनों को तार्किक दृष्टि से सदोष पाया गया है और उनके किसी सापेक्ष सत्य या स्थायी देन की चर्चा नहीं है और यह तब जबकि रसेल दर्शन का इतिहास सामाजिक इतिहास के संदर्भ में लिखना चाहते थे। पर यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि अपनी ही दृष्टि को एकान्त सत्य या तर्कसंगत मानना एक व्यापक दुर्बलता है। उसे असंदिग्ध रूप से स्वीकार करने पर दर्शन-साम्राज्य असंख्य विच्छिन्न द्वीपों का एक समूह बन जाएगा। वस्तुतः उन्हें सांस्कृतिक अनुभूति-धारा और उपधाराओं के मोड़ मानना चाहिए। शब्दों और विकल्पों के वासना-मूलक होने के कारण नाना परम्परात्मक संदर्भों में दृष्टिभेद प्रकट होते हैं और उनके गवाक्षों से मानवीय या वैचारिक परिप्रेक्ष्यों के रूप में दार्शनिक प्रस्थान जन्मते हैं।

इस प्रकार सौन्दर्य-मीमांसा न सिर्फ विद्यापरिकल्पना के रूप में संस्कृति-सापेक्ष है अपितु एक दार्शनिक विद्या के रूप में भी दृष्टि-सापेक्ष है। पर सौन्दर्य-मीमांसा न सिर्फ अपनी शास्त्रीय संरचना के द्वारा द्विविध रूप से सापेक्ष है, वह अपने विषय के द्वारा भी सापेक्ष है। सौन्दर्यमीमांसा मूल्य-दर्शन की एक विधा है और मूल्य विवेक-गोचर होते हुए भी सांस्कृतिक-सांकेतिक परम्परा से अलग नहीं किये जा सकते। जैसे विज्ञान-दर्शन वैज्ञानिक परम्परा के अभाव में सिर्फ विश्वजनीन व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर नहीं चल सकता ऐसे ही मूल्यदर्शन भी मानवीय

१ द्र० प्रस्तुत लेखक का *म० म० गोपीनाथ कविराज* (साहित्य अकादमी), रामावतार शर्मा, *परमार्थदर्शनम्*, प्रस्तुत लेखक का *भक्तिदर्शनविमर्शः* (स० संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी)।

मूल्यसाधना से अपरिचय या अल्पपरिचय की अवस्था में गहरायी प्राप्त नहीं कर सकता। मूल्य-सर्जनात्मक और संप्रेषणात्मक सांस्कृतिक-सांकेतिक परम्पराओं में कला और साहित्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। यह सही है कि कलाकृति अथवा कला-निमित्त के वर्णन मात्र से उनकी तत्वमीमांसा संपन्न नहीं होती किन्तु इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस मीमांसा के लिए सहृदय समाज में मान्यता प्राप्त कलाबोधात्मक निर्णय प्रदत्त होने चाहिए और ये निर्णय सांस्कृतिक परम्परा के ही अंग होते हैं। जैसे किसी एक व्यक्ति के प्रकृतिविषयक अशिक्षित निर्णय को विज्ञान नहीं कह सकते, ऐसे ही कलाविषयक निर्णय भी एक सांस्कृतिक परम्परा के अन्दर ही सार्थक होते हैं। रामानुजन् जैसे गणक और कबीर जैसे कवि भी एक परम्परा की कड़ी के रूप में ही विवेच्य बन पाते हैं। शिक्षित-संस्कारित संवेदना या सहृदयता के रूप कलाबोध एक पूर्वप्रदत्त कला-विश्व के संदर्भ में विकसित होता है, और उसे निर्णयात्मक बोध और मीमांसा पूर्वाभ्युपगमित करती है। प्लातोन और अरस्तू यूनानी महाकाव्य, शिल्प और नाट्य के संदर्भ में मीमांसा करते हैं, अनेक सांप्रतिक विचारक कला की वर्तमान विखंडित पर संकीर्ण अवस्था के संदर्भ में लिखते हैं। यह स्मरणीय है कि हेगेल और बोसैंके ने कलाबोध और कला विश्व की सापेक्षता का तर्कसंगत इतिहास के रूप में विस्तृत विवेचन किया है।[१] यद्यपि कला विश्व सौन्दर्यमीमांसा के लिए आवश्यक है, कला विश्व के लिए सौन्दर्यबोध आवश्यक होते हुए भी सौन्दर्यमीमांसा आवश्यक नहीं है। कला-विश्व, सौन्दर्य की प्रतीति, और कलाकृतियों की रचना सभी युगों में मानव जीवन का अंग रही हैं। नियत रूप से प्राप्त अनुभव पर विचार करना भी मानव स्वभाव का अंग है। किन्तु इस विचार की परम्परा किस रूप में कितनी दूर तक बढ़ती है, यह उस परम्परा की सामाजिक भूमिका पर निर्भर करती है। यह निश्चित है कि जिन क्षेत्रों में कार्यकारण-नियमों के विज्ञान पर निर्भर न कर व्यवहार एक प्रकार की अभ्यस्त स्वच्छन्दता पर निर्भर करता है, उन क्षेत्रों में अमूर्त तत्वज्ञान की साक्षात् व्यावहारिक प्रयोजनीयता सीमित रहती है। उदाहरण के लिए नीति, धर्म या कला के क्षेत्रों में व्यवहारपटुता उस क्षेत्र के तत्वज्ञान से नहीं आती। नीति या धर्म के व्याख्याताओं का स्वयं नैतिक या धार्मिक बन पाना आवश्यक नहीं है। कला का व्याख्याता उतने मात्र से स्वयं कलाकार भी नहीं हो सकता। इसके विपरीत बढ़ई या इन्जीनीयर अपने-अपने स्त के विज्ञान से परिचित होते हैं। उनके कार्य में कारण तत्व या सिद्धान्त का ज्ञान आवश्यक रूप से उपयोगी होता है। यह सही है कि इन क्षेत्रों में भी प्रारम्भिक अवस्था में व्यवहार का आधारभूत विज्ञान स्थूल

१ द्र० बोसैंके, *हिस्ट्री ऑव ईस्थैटिक* (१६५७) हेगेल, *पूर्वोद्धृत* ।

प्रत्यक्षगोचर, अभ्यस्त और प्रायिक, संक्षेप में **एम्पिरिकल** होता है। व्यावहारिक प्रयोग की सूक्ष्मता और सैद्धान्तिक विज्ञान का विकास न्यूनाधिक रूप में समकालीन होता है, यद्यपि इसमें कभी प्रयोग आगे तो कभी सिद्धान्त आगे बढ़ सकता है। उदाहरण के लिए प्रागैतिहासिक काल में प्रविधि आगे थी, सिद्धान्त पीछे। प्राचीन यूनान में सिद्धान्त प्रविधि से बहुत आगे था जैसे उनकी घन ज्यामिति या खगोलविद्या से स्पष्ट है पर जहाँ तक दृष्टार्थ साधक व्यवहार के परे आदर्श मूल्यों की साधना के क्षेत्र है, जैसे नीति, धर्म, कला आदि उनमें क्रिया का विज्ञान से अत्यन्त संबंध है। स्वविषयक तत्वज्ञान या दर्शन भी उनमें क्रिया की समर्थ प्रेरणा नहीं बनता। यह सही है कि कुछ लोग यह मानते हैं कि विज्ञान के विकास से संस्कृति-साधना में भी क्रान्तियां हुई हैं। अन्ध-विश्वास के हटने से नीति रूपान्तरित होकर बुद्धिसंगत बन गयी है, धर्म एक कुहासे की तरह प्रायः छंट गया है, कलाकार ने अभूतपूर्व सामर्थ्य प्राप्त की है, जिससे उसके माध्यम और प्रविधि में अन्तर आया है। पर वस्तुतः ये युक्तियां सही नहीं है। नीति और धर्म में परिवर्तन विज्ञान की प्रगति से न होकर विज्ञान-परक दर्शन और दार्शनिक दृष्टि के प्रसार का परिणाम है। वैज्ञानिक प्रविधि से कला में रूपान्तर हुए हैं जैसे भाषात्मक माध्यम के परिवर्तन से साहित्य में, पर इन परिवर्तनों का सहृदयता के प्रसंग में मूल्यांकन सिर्फ इस बात से नहीं हो सकता कि वे माध्यम अथवा प्रक्रिया के परिवर्तन हैं। बाँसुरी, वीणा, और सितार के आविष्कार का भारतीय संगीत के इतिहास में बहुत महत्व है, पर शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि उनके आविष्कार संगीत के विकास से ही प्रयोजित हैं, न कि उनके आविष्कार से संगीत का विकास। वॉयलिन के आधुनिक प्रयोग ने इस भारतीय धारा में महत्वपूर्ण योग दिया है, यह असंदिग्ध है पर उससे संगीत में कोई मौलिक अन्तर हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। संगीत-प्रसारण, संरक्षण, शिक्षण आदि में परिवर्तन का महत्व निश्चित है, पर वह सामाजिक इतिहास का कला पर प्रभाव है। भाषा-परिवर्तन के विषय में भी यही सही है कि जब वे परिवर्तन नयी साहित्यिक चेतना के अनुगुण या समानान्तर होते हैं तो वे उसकी अभिव्यक्ति के साधन बनते हैं। उदाहरण के लिए अंग्रेजी या फ्रेंच भाषाओं में १९वीं सदी में जिस परिष्कार और सूक्ष्मता का अविर्भाव हुआ वह एक व्यापक सांस्कृतिक परिवर्तन का अंग था। भारत में सरकारी प्रेरणा से जो अनुवाद की नयी भाषा बन रही है, उससे साहित्य विशेष रूप से उपकृत हुआ हो, यह कह सकना कठिन है। संक्षेप में यह कहना अयुक्त न होगा कि विज्ञान या वैज्ञानिक प्रविधि का कला पर प्रभाव सामाजिक संदर्भ के द्वारा होता है जो कला के प्रयोजनों और प्रेरणा को व्यक्ताव्यक्त रूप से दिशा देते हैं। यद्यपि वैज्ञानिक-प्राविधिक, सांस्कृतिक-सामाजिक कारणों से कला के प्रभेद

और रूप असंख्य प्रकार से इतिहास की धारा में बदले हैं, उनसे कला ने अधिकाधिक उत्कर्ष पाया जाता है, यह नहीं कहा जा सकता। पाषाणयुग के अल्तामिरा के चित्र आज भी लाजवाब हैं, यही स्थिति अजंता के चित्रों की है। होमर और वाल्मीकि परम्पराप्रवर्तक होते हुए भी उसके मूर्धन्य बने रहते हैं। भले ही इन मूल्यांकनों पर वैमत्य प्रकट किया जा सके, यह निस्संदेह है कि पुरातीत काल से ही कला के इतिहास को विज्ञानपरतंत्र सामान्य विकासवाद या प्रगतिवाद के सांचे में नहीं रखा जा सकता। कला और साहित्य का इतिहास सरल प्रगति का इतिहास नहीं है, न वे संस्कृति के निरपेक्षतया स्वाचत्त प्रकार हैं।

यदि कला के विकास का विज्ञान से सम्बन्ध साक्षात् नहीं है तो दार्शनिक तत्व-ज्ञान से और भी सुदूर का है। कला के सबसे सुविज्ञ दार्शनिक इतिहासकार हेगेल की यह प्रसिद्ध उक्ति है कि ज्ञान-विज्ञान की देवी का विहंग-वाहन तभी उड़ान भरता है जब सांझ की छाया घिरने लगती है। तात्पर्य यह है कि कला का तात्विक विवेचन उसकी परिणतप्राय परम्परा का हिस्सा है, न कि उसके आरम्भिक या प्रवर्धमान चरण का। प्लातेन और अरस्तू ने सौन्दर्य और कला तत्व का विवेचन जिस युग में किया उस युग तक होमर, ईस्किलस, सोफोक्लीज, पार्थिनान और फिडियाज पूर्व-प्रदत्त थे। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के काल के पहले ही प्राचीन काव्य, नाट्य और मूर्तिकला अपना उत्कर्ष प्राप्त कर चुके थे। लियोनार्डो से बाख तक का विकास कान्ट और हेगेल के लिए पूर्व-प्रदत्त था। फलतः यह कहा जा सकता है कि कला तत्व का दार्शनिक विवेचन कलाकार के लिए आवश्यक प्रेरणा नहीं है, बल्कि कला विश्व के प्रौढ़ हो जाने पर ही इस प्रकार के विवेचन का उदय होता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कला के लिए कला-दर्शन की कोई सार्थकता नहीं है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है दार्शनिक प्रस्थान मूल दृष्टियों के तार्किक अनुसंधान और उनके अन्तर्गत संभावना-क्षेत्र के अवगाहन के रूप में विकसित होते हैं। उनके द्वारा दृष्टियाँ वैचारिक स्तर पर पुष्ट अथवा निरस्त होती हैं। सामान्य जीवन में संभावनाओं का स्वीकार प्रचलित दृष्टियों के अनुसार ही होता है। दार्शनिक चिन्तन का विकास शिक्षा-दीक्षा में अनुप्रविष्ट होकर सामाजिक जीवन-दृष्टि को प्रभावित करता है। इसी नाते उसका कला के साथ एक पारम्परिक सम्बन्ध बनता है। उदाहरण के लिए मध्यकालीन यूरोप में इसाई धर्म-दर्शन के द्वारा व्याख्यात जीवन-दृष्टि का प्रसार था और उसी सन्दर्भ में कलाओं ने विशिष्ट रूप धारण किये। आधुनिक दर्शन की प्रवृत्ति ऐहिक मानववादी है। प्रसिद्ध समीक्षक और विचारक आई० ए० रिचर्ड्स ने कहा है कि वैज्ञानिक धारणाओं के प्रकाश में **मिथ** के विलुप्त हो जाने के कारण वर्तमान कविता के लिए

एक नयी संकेत-व्यवस्था की खोज आवश्यक हो गई है। **मिथ** समूचे समज से स्वीकृत सहजबत् संकेत-व्यवस्था थी। उसके अभाव में नये गढ़े हुए संकेत या तो दुर्बोध वैयक्तिक संकेत बन जाते हैं या बौद्धिक रूढ़ियाँ। ऐसे ही मध्यकालीन भारतीय साहित्य की एक धारा अलंकार-शास्त्र के अनुसरण से काव्य-रचना चाहती थी। आधुनिक भारतीय साहित्य और कला पर अनेकानेक सामाजिक और कला-दर्शनों का प्रयोगात्मक प्रभाव देखा जा सकता है। रोमैन्टिसिज्म, अतियथार्थवाद, समाजवादी यथार्थवाद, नयी आलोचना आदि का उल्लेख यहाँ पर्याप्त होनी चाहिए।

संक्षेप में यद्यपि यह निःसंदेह है कि जीवन-दृष्टि और सामाजिक मान्यताओं का कला और साहित्य पर प्रभाव पड़ता है, यह भी निश्चित है कि दार्शनिक या वैज्ञानिक विचारों का उन पर साक्षात् प्रभाव गौण रहता है। सार्त्र के उपन्यास उसके अस्तित्ववादी दर्शन के परिणाम हैं या उस मूल दृष्टि के जिसका एक विकास दर्शन है, दूसरा विकास उसके उपन्यास, यह प्रश्न होने पर यह दूसरा विकल्प ही अधिक समीचीन लगेगा। तुर्गनिव का उपन्यास **"पिता और पुत्र"** वैज्ञानिक निष्ठा का परिणाम नहीं है, वह एक ऐसी युगान्तकारी दृष्टि का परिणाम है जिसने विज्ञान का भी अवलम्बन किया। पक्षान्तर में विचार-धारा के स्तर पर अनुपनीत प्राकृतिक या सामाजिक स्थितियों की साहित्य और कला के आन्तरिक क्षेत्र पर कारकता संदिग्ध है।

मैं यह कहना चाहता हूँ कि सौन्दर्य और कला-तत्व की दार्शनिक मीमांसा एक दार्शनिक जिज्ञासा को पूरी करती है, वह अपने में कला की प्रेरणा नहीं बनती, न उसमें साक्षात् रूप से साधक बनती है। किन्तु वह बाधक बन सकती है। और बाधक दृष्टियों का निरास करने के द्वारा साधक भी बन सकती है। दर्शन के प्रयोजनों में असंभावना और विपरीत भावना का निरास गिना जाता है, जहाँ तक कि किसी भी प्रकार की साधना का प्रश्न है चाहे वह व्यावहारिक मूल्यों का अनुसंधान हो चाहे आदर्श मूल्यों का। इसका कारण यह है कि दार्शन-शास्त्र नितान्त शुष्क-तर्क-प्रधान ज्ञानात्मक विधा है और इस प्रकार के ज्ञान से कला नहीं उपजती। यही कारण है कि काव्य और कला के सर्जन के अतीत महायुगों में सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन एक प्रकार से उसके दार्शनिक परिशिष्ट के रूप में रहा। उसमें सामान्य दार्शनिक विवेचन की प्रवृत्तियों का प्राधान्य और कलात्मक अनुभूति की विशिष्टता के विवेचन का स्थान गौण रहा है। यदि सत्ता-स्वातंत्र्य की दृष्टि से लक्ष्य प्रथमस्थानीय है, तो लक्षण का स्थान इसके परतंत्र होना चाहिए और लक्षण-निरूपणात्मक आकांक्षा का स्थान-अपेक्षया स्वतंत्र होते हुए भी सूदूर।

सौन्दर्यानुभूति का विकास

सभ्यता-भेद के बावजूद कला विश्व और सौन्दर्यानुभूति के विकास के एक सामान्य और तर्कसंगत क्रम के निरूपण का प्रयास भी किया गया है। यह प्रसिद्ध है कि हेगेले ने कला की अवधारणा के विकास के तीन चरण बताये हैं जिन्हें उन्होंने प्रतीकात्मक (सिम्बोलिक), श्रेण्य (क्लासिक), और रूमानी (रोमेन्टिक) कहा है।[१] यूरोप के बाहर की मिस्री या भारतीय परम्परा को उन्होंने सिम्बालिक कोटि में रखा है। इस शब्द का उनका प्रयोग एक निन्दा-परक अर्थ में ही हुआ है। उनके अनुसार (प्रतीकात्मक) कला वह है जिसमें कला-कृति अपने अभिप्राय तक पहुँचने में असमर्थ है। जैसे अलंकार शास्त्र में यह प्रसिद्ध दोष है कि किसी भाव का प्रतिबिम्बन न कर सकने पर कोई सिर्फ भाव का उसके नाम से ही अभिधान कर दे। ऐसे ही हेगेल के अनुसार भारतीय कला में लोकोत्तर और लोक का संबंध ठीक न समझ कर लोकोत्तर शक्ति और गुण प्रदर्शित न कर पाने पर उन्हें बहुत से हाथ और मुख एवं नाना आयुध और वाहन बनाकर रूढ़ प्रतीकों के द्वारा दिखाया जाता था। सिंबलिज्म शब्द का प्रयोग आजकल दूसरे प्रकार से होता है। उदाहरण के लिए सुसैन लैंगर ने कला--कृति को मूर्त संकेत के रूप में प्रतीक बताया है। कुमार स्वामी प्रतीकों में गुह्य और सनातन अर्थ की अभिव्यक्ति देखते हैं। वस्तुतः कला की प्रतीकात्मकता किसी भी स्थिति में रूढ़ि नहीं हो सकती। किन्तु हेगेल के तार्किक बुद्धिवादी दर्शन के लिए भारतीय देव-कल्पना की प्रतीकात्मकता असामर्थ्य की द्योतक है।

कला का क्लैसिकल रूप हेगेल के लिए प्राचीन यूनानी कला में निदर्शित है जिसमें रूप और चेतना में सामरस्य मिलता है।[२] आधुनिक कला में उनके अनुसार चेतना का प्राधान्य है और यही रौमैन्टिक अवधारणा का प्राण है।[३]

सिर्फ पश्चिमी विकास को ध्यान में रखते हुए हेगेल के अनुयायी बोसेंके ने सौन्दर्य की अवधारणा के विकास के दो चरण निरूपित किये हैं-- १. प्राचीन अवधारणा के अनुसार सौन्दर्य प्रत्येक जातीय सामान्य के निर्दोष निरूपण में प्रकट होने वाला लक्षण है अर्थात् मानवीय सौन्दर्य मानव-जातीय सामान्य रूप का सौन्दर्य है। यहाँ सामान्य का अर्थ औसत नहीं, बल्कि प्रमाणभूत आदर्श है। २. इसके विपरीत आधुनिक दृष्टि से सौन्दर्य व्यक्ति की विशिष्ट चारित्रिकता में या संवेद्य

१ हेगेल, *पूर्वोद्धृत*, पृ० ३१० और आगे।
२ वही, पृ० ४१८ और आगे।
३ वही, पृ० ४६५ और आगे।

स्वलक्षण में लक्षित होता है।[१] प्राचीन दृष्टि से सौन्दर्य का आदर्श सामानय है। आधुनिक दृष्टि से व्यक्तित्व का प्रकाशन है। यहाँ संभवतः यह कहना अनुचित न होगा कि व्यक्तित्व सिर्फ मानवीय व्यक्तित्व नहीं है। देश, काल और अनुभूति के विशिष्ट अद्वितीय क्षणों का निरूपण, इसमें सम्मिलित किया जा सकता है। यह विचारणीय है कि प्राचीन यूनानी दृष्टि ऐतिहासिक नहीं थी, न उसमें मनुष्य की व्यक्तिगत आत्मा या **साइके** ही महत्वपूर्ण थी। उसके अनुसार मनुष्य मरणशील प्राणी है, व्यक्तिगत रूप से उसका अमृतत्व संभव नहीं है, बुद्धितत्व में भागीदार होने के नाते ही मनुष्य एक सार्वभौम प्रकाशमय विश्व में प्रवेश कर सकता है। इस दृष्टि से उदात्त अभीप्सा का लक्ष्य एक प्रकार की निर्वैयक्तिक और अकालिक उपलब्धि को ही माना जा सकता है। इस दृष्टि के विपरीत आधुनिक दृष्टि मानवीय व्यक्तित्व को और इतिहास की प्रतिविशिष्ट अवस्थाओं को और संक्रमणों को महत्व देती है। किन्तु आधुनिक दृष्टि में एक द्वैत है जो एक प्रकार का अन्तर्द्वन्द है। एक ओर उसकी वैज्ञानिक आस्था और ऐतिहासिक विकास वाद उसके लिए भी आदर्श को भविष्य में स्थापित करते हैं जिस प्रसंग में जन्मते-मरते व्यक्तियों का महत्व न होकर सामाजिक कर्म का ही महत्व है। गेटे के **फाउस्ट** में अनन्त विज्ञान के अनुसंधान के बाद सार्वजनिक आभियांत्रिकी में ही **फाउस्ट** अपनी परिणति देखता है। दूसरी ओर इस समाज-वैज्ञानिक और बुद्धिवादी दार्शनिक परिप्रेक्ष्य के बाहर एक नितान्त प्रबल व्यक्तित्व-बोध आधुनिक दृष्टि का महत्वपूर्ण पक्ष है। यहाँ व्यक्तित्व की चरितार्थता किसी लोकोत्तर अमृतत्व की प्राप्ति में नहीं मानी जाती बल्कि लौकिक जीवन में स्वच्छन्दता और मनोनुकूल जीवन शैली स्थापित कर पाने में मानी जाती है। व्यक्तिव और सामाजिकता के इस द्वन्द्व से आधुनिकता ग्रस्त है। हेगेल ने इस प्रसिद्ध मत की उद्भावना की थी कि आधुनिक सभ्यता का विकास कला के ह्रास का युग सिद्ध होगा।[२] इस युग के जटिल और विखंडित विस्तार को यथावत् रूपायित न किया जा सकेगा और कला के विषय अधिकाधिक आनुषंगिक और संस्मरणात्मक हो जाएँगे। अनेक आलोचकों ने कला के निधन की इस भविष्यवाणी को आजकल क्रमशः सत्य होते पाया है।

इस प्रकार कला-विंश्व और सौन्दर्यदर्शन का हेगेलीय आदर्शवादी समूचा इतिहास, सौन्दर्य और कला के तीन प्रत्यों में परिसमाप्त हो जाता है। यह प्रत्यय-त्रैत आगन्तुक नहीं बल्कि एक तार्किक अनिवार्यता से निर्धारित माने गये हैं। विषय और उपादान (माध्यमों) का उपयोग अथवा चेतना या (अर्थ) और

१ पूर्वोद्धृत।
२ टेलर, *पूर्वोद्धृत*, वही।

रूप, ये जो कला के दो सनातन पक्ष हैं, उनके तीन प्रकार के संबंध संभव हैं। उपादान का प्राधान्य, उपादान और विषय की समप्रधानता, और विषय का प्राधान्य, इस तीन स्थितियों से तीन प्रकार की कला का जन्म होता है, जैसा पहले कहा गया था। इस मत में यह पूर्वमान्यता है कि विश्व अखंड ज्ञान का प्रकाश है। यह ज्ञान मानवीय चेतना में आत्मबोध प्राप्त करता है और नाना सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्तरों पर अपने अनुकूल विषयों की रचना करता है। इन्द्रियगोचर विषयों से बुद्धितत्व का अव्यवहिक निर्भासन ही सौन्दर्य है। प्राकृतिक विषय और कलाकृति दोनों ही में सौन्दर्य की प्रतीति प्रसिद्ध है, पर कलाकृति चेतना की स्वतंत्र और अपरिच्छिन्न आत्मानुरूप कृति होने के कारण उत्कृष्टतर है।[१]

क्या कला के इतिहास का और तद्विषयक मत-मतान्तर का वैचित्र्य किसी सरल युक्तसंगत सूत्र में संगृहीत किया जा सकता है, यह प्रश्न स्वाभाविक है। हेगेल इतिहास को भी बुद्धितत्व से अनुप्राणित मानवीय चेतना की कृति मानकर उसमें आगन्तुकता और संयोग, संघर्ष और स्वार्थ के भी पीछे एक निगूढ़ युक्तिसंगति देखते हैं, जिससे एक स्थूल रूप में ऐतिहासिक विकास द्वन्द्वात्मक तार्किक विकास की अनुरूपता प्रदर्शित करता है।[२] प्रत्ययमात्र बुद्धि का आत्मावधारणा है और वह अपनी परिच्छिन्नता के कारण द्वन्द्वाहत होकर एक पूर्णतर प्रत्यय के जन्म का हेतु बनता है। सन्मात्र के अवधारण से आरंभ होकर प्रत्यों की द्वन्द्वात्मक प्रगति आत्मचेतना के प्रत्यय में परिणत होती है।[३] यही आत्मचेतना का प्रत्यय मानवीय सत्ता को अवधारित करता है। मानवीय चेतना अपने निरवच्छिन्न स्वरूप का बोध जिस स्तर पर करती है वह कला से आरम्भ होता है। पर ये मानवीय व्यापार भी एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के द्वारा अपूर्ण से पूर्णतर प्रत्ययों के द्वारा नियोजित होकर उन्हें दृष्टान्तित करते हैं।

मानवीय विकास की इस अवधारणा में एक कठिनाई तो यह है कि मनुष्य के स्वरूप को इसमें परमार्थतः बौद्धिक या तार्किक ज्ञानात्मक मान लिया गया है। मानवीय आत्मा का स्वरूप ज्ञानात्मक मानने पर उस ज्ञान को क्या तार्किक या विचारात्मक ज्ञान कहा जा सकता है, यह प्रश्न आवश्यक रूप से उठ खड़ा होता है। समस्त भारतीय परम्परा में जो आत्मा को ज्ञान-स्वरूप मानते हैं, वे भी उस ज्ञान को अध्यवसायात्मक या बौद्धिक क्रियात्मक नहीं मानते हैं। शंकर के लिए

१ हेगेल, *पूर्व०* पृ० १७२ और आगे।

२ उदा० द्र० लवेनवर्ग (सं०), *हेगेल सैलेक्शन्स* (१६२६), पृ० ३८०।

३ हेगेल *एन्त्सिल्कोपेदी* (हाम्बुर्ग १६६६), पृ० १६४, प्रत्ययों की एकता "स्वयं सोचती है, स्वयं तर्क-प्रकार है" (*आल्स देंकेन्दे आल्स लोगिशे इदे*)।

ज्ञान निर्गुण और निर्विशेष है। काश्मीर शैव दर्शन में प्रकाश सविमर्श होते हुए भी विमर्श और बौद्धिक विकल्प एक नहीं है। भर्तृहरि में समस्त प्रत्यय शब्दानुविद्ध होने पर भी शब्द का मूल रूप पश्यन्ती वाक् है जो कि प्रातिभ ज्ञान से अभिन्न है। ईश्वरीय ज्ञान में अनेक आगम नित्य सर्वज्ञता मानते हैं। किन्तु वे उसमें तार्किक द्वन्द्वामक प्रक्रिया नहीं मानते हैं। बौद्ध चित्त को विकल्पात्मक मानते हैं किन्तु वे धर्म-काय में निर्विकल्पता स्वीकार करते हैं। वास्तव में हेगेल के लिए समस्त विषयों की बुद्धिगम्यता, समस्त विश्व का एक अनन्त ज्ञान का विषय होना यही मानवीय चेतना में अन्तर्निहित बुद्धितत्व है। मानवीय चेतना में ज्ञान अर्थात् विश्व की ज्ञेयता की संभावना का आविर्भाव ही उसके चैतन्य का लक्षण है। इस मत में आत्मा कोई स्वतन्त्र विषयी नहीं है। विषय और विषयी ज्ञान के अविभाज्य घटक हैं और ज्ञान अवधारणा-प्रकार मात्र न रह कर अपनी वस्तु-सत्ता को मानवीय मानस में ही प्राप्त करता है। अर्थात् मनोभूमि में घटित होने वाली सविशेष और तात्कालिक प्रतीतियों के द्वारा आभासित तार्किक संभावना ही वस्तुतः ज्ञानपद-वाच्य है। यदि इस अनात्मवाद को मान भी लिया जाय तो इसकी बुद्धिवादिता उसे एकांगी और अयथार्थ बना देती है। बौद्ध विज्ञानवाद भी मानवीयसत्ता को प्रत्यय-प्रवाह में निमग्न करता है किन्तु वह चित्त को सिर्फ न्यायानुगत अध्यवसाय या प्रमाण-विकल्प मात्र नहीं मानता क्यों कि उसके लिए वेदना और संस्कार भी चित्त के अनन्य भाग हैं।

मनुष्य में प्रमाण-बुद्धि अन्तर्निहित होते हुए भी वह उसके स्वभाव को पूरी तरह परिभाषित नहीं करती और धार्मिक विवेक भी प्रत्यक्ष एवं अनुमान से भिन्न प्रमाण है, उसे तार्किक युक्ति-विन्यास में विश्लेषित नहीं किया जा सकता। भावनात्मक तत्व मानवीय आत्मबोध का अनिवार्य अंग है। उसके रहस्य और समस्याओं को तर्क से सुलझाया या अवगाहित नहीं किया जा सकता। स्वयं तर्कबुद्धिसम्पन्न मनुष्य भी अहंकार-ममकार के परवश होकर अपने ऐतिहासिक कार्य-कलाप में न सदा युक्ति-पूर्वक कार्य करता है, न उसके न्याय-विरुद्ध व्यवहार के पीछे कथांचित् व्यापारशील "बुद्धि की चतुराई" सदा सफल ही हो पाती है। मानवीय इतिहास में अन्ततोगत्वा ज्ञान की विजय होती है या होगी, इसका ऐतिहासिक स्तर पर कोई प्रमाण नहीं है। फलतः मानवीय संस्कृति में एक युक्तियुक्त बौद्धिक विकास को चरितार्थ देखना दोनों ही प्रकार से अयुक्त प्रतीत होता है। एक तो सांस्कृतिक व्यापार सिर्फ बुद्धि के व्यापार नहीं हैं। दूसरे, मानवीय बुद्धि सदा युक्तिसंगत नहीं होती।

क्या संस्कृति के कालात्मक क्षेत्र में ऐसा युक्ति-सूत्र मिल सकता है जो कि उसे एक संग्रह-रूप में प्रस्तुत कर सके। कला के इतिहास को समझने का एक

प्रचलित योजना सूत्र इस प्रकार है, पुरातीत कला **प्रिमिटिव** और आनुष्ठानिक एवं जादुई थी, अतीत सभ्यताओं की कला मिथकीय/ रूपों में आदर्शों को प्रस्तुत करती थी, मध्यकालीन कला धर्म-प्रधान थी, आधुनिक कला व्यक्तिप्रधान और ऐहिक है। पर इस प्रकार के विभाजन में वर्गीकरण का कोई निश्चित आधार नहीं है। विभिन्न संस्कृतियों में कला का इतिहास देखने पर एक चक्राकार क्रम अवश्य दीखता है जिसका सर्वप्रथम विको ने निरूपण किया था। प्रकारान्तर से ऐसे ही चक्राकार क्रम को स्पेंगलर और टॉयनबी ने भी निरूपित किया है।[१] इनसे पर्याप्त भेद रखने वाले आधुनिक समाजशास्त्री भी कला आदि सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रवृत्ति-वैचित्र्य को कुछ व्यापक प्रवृत्तियों के माध्यम से समझना चाहते हैं। उदाहरण के लिए यह सोरोकिन में देखा जा सकता है।[२] वस्तुतः कला के इतिहास की चक्राकार गति सांस्कृतिक इतिहास की गति से ही बंधी हुई है। भारतीय परम्परा और आध्यात्मिकता के संदर्भ में श्री अरविन्द एवं कुमार स्वामी के अनुसार कहा जा सकता है कि संस्कृति के मूल पर्व में एक सनातन विद्या का उन्मेष देखा जा सकता है और उस युग को आर्ष युग कहा जा सकता है जब प्रतिभाशाली पुरुषों की सहज बुद्धि दिव्य प्रेरणा ग्रहण करने में समर्थ थी, जब द्रष्टा शाश्वत धर्म का साक्षात्कार प्राप्त कर शब्दों में उसकी सहज अभिव्यक्ति कर सकते थे। यह वस्तुतः काव्य का मन्त्रमय कहा जा सकता है जब 'कवि' शब्द मानवीय कवि और ईश्वर के लिए समान रूप से प्रयुक्त होता था। समस्त सृष्टि देव-शक्ति का काव्य है जैसे मन्त्रमय काव्य ऋषियों का। उस युग में शिल्पी भी अद्भुत कर्ता माने जाते थे। उनके द्वारा निर्मित वस्तु में लोकोत्तरता का आभास स्वीकार किया जाता था। कवि या शिल्पी ज्ञानी, दिव्य प्रेरणा से युक्त, अद्भुतकर्मा द्रष्टा और निपुण स्रष्टा माना जाता था। उसमें ज्ञान और विज्ञान और दोनों की ही कुशलता सहज-प्रेरणा-लब्ध कुशलता मानी जाती थी। उसकी कृति जीवनोपयोगी भी थी, और लोकातीत सार्थकता से बुनी हुई थी।

इस प्रकार के आर्ष युग की धारणा विको, स्पेंगलर आदि पाश्चात्य इतिहास या संस्कृति के विद्वानों में नहीं मिलती। उनके मतों में प्राचीनतम युग वीर-काव्य का युग है जिसमें सहज प्रतिभा के द्वारा भौतिक और बौद्धिक दृष्टि से अविकसित जनसमुदायों के जातीय-जीवन के मूल्यों की वाचिक परम्परा में अभिव्यक्ति है।[३]

१ द्र० गो० च० पांडे (सं०), *इतिहास -सिद्धान्त और पद्धति* (जयपुर)।

२ *सोरोकिन, सोशल एण्ड कल्चरल डाइनामिक्स* (१६३७-४१): *सोशल फिलॉसफीज ऑव एन एज ऑव क्राइसिस* (१६५२) पृ० ११ और आगे।

३ पौम्पा, *विको* (१६६०), श्पैंगलर, *उन्तरगांग देस आबेन्त-लान्देस* (अंग्रेजी अनु० एलैन एन्ड अनविन) जि० १, पृ० ३६६ और आगे।

पर भारतीय संदर्भ में प्रतीत होता है कि यह स्थिति वस्तुतः आर्षयुग के समाप्त हो जाने के बाद की है। होमर वेद से तुलनीय नहीं हैं, बल्कि महाभारत से तुलनीय हैं। दूसरी ओर ऋषियों की तुलना परवर्ती युगों के मनीषियों और संतों से हो सकती है। **कुरानशरीफ** या **दिव्यप्रबन्धम** आर्ष काव्य के ही यथायोग्य उदाहरण हैं। चीनी परम्परा में भी आदियुगीन ज्ञानियों की चर्चा मिलती है। पारम्परिक ज्ञानियों ने मौखिक शब्द को जो महत्व दिया है, उसका निरक्षरता से कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है, न वाचिक परम्परा का अविकसितता से। प्लातोन् या बुद्ध लेखन से परिचित थे, संभवतः वैदिक ऋषि भी। आगमिक काव्य या जातीय महाकाव्य की वाचिकता को उनका तात्विक लक्षण नहीं माना जा सकता।

पुरातीत युग की परम्पराओं को इतिहास के रूप में प्रमाणित कर सकना संभव नहीं है, पर प्रकृत फलितार्थ यह हे कि एक महनीय, प्राचीन परम्परा के अनुसार काव्य सनातन विद्या के साक्षात्कार से प्रेरित सृष्टि है जिसमें लोकोत्तर ज्ञान और कर्म-निर्देश उपलब्ध होता है। शिल्प भी इस परम्परा में अपूर्व विज्ञान से प्रेरित अद्‌भुत रूप-कारिता है। पर ऐतिहासिक क्रम में परम्परा इस निष्ठा में नहीं बनी रही। देवात्मक ऋत-सत्य को सांकेतिक आख्यान या मिथ के द्वारा व्यक्त करने की परम्परा से अधिक प्रचलित मानवीय वीर-चरित का निरूपण बन गया और ज्ञानात्मक मंत्रकाव्य या वेद के स्थान पर धर्म की गति को प्रकट करने वाले श्लोकात्मक इतिहास-काव्य का प्रसार हुआ। मंत्र में द्रष्टा और साक्षात्कार्य सत्, शब्द, अर्थ और छन्द एकीभूत रहते हैं। मंत्र ज्ञान का प्रकाशक होता है, अथ च स्वयं ज्ञानस्वरूप होता है। काव्य की पुरातन महिमा का मूल इस मांत्रिकता की अवधारणा में ही थी। कुछ विद्वानों ने शिल्प का मूल भी इसी मांत्रिकता में बताया है। मानवीय इतिहास के काव्य विषय बनने पर काव्य का लौकिकीकरण संपन्न हुआ और अब आर्षकाव्य या वेद को काव्य पद से हटा कर शास्त्र पद पर प्रतिष्ठापित किया गया। पर इतिहास-काव्य का शास्त्र से सम्बन्ध बना रहा क्यों कि उसमें इतिहास तत्तद् इतिवृत्त का वाचक न होकर जातीय आदर्शों के अनुसार "सनातन सत्य" के दृष्टान्त का वाचक था। वह आगन्तुक लौकिक वृत्तांत का वर्णन नहीं था अपितु मानवीय स्वभाव और कर्भ का धर्म के दृष्टान्त के रूप में निदर्शन था। होमर के वीर काव्य में कुलजात्यादि संमत धर्म के अनुसार वीरोचित स्वभाव और कर्म निदर्शित है पर उसमें उदात्त "साधारण" धर्म या मानव-धर्म का निदर्शन नहीं है जैसा कि रामायण-महाभारत में है। यह सही है कि कुछ विद्वान् महाभारत के मूल रूप को भी **इलियड** के समान वैर-निर्यातनात्मक रौद्र-वृत्ति में ग्रथित मानते हैं पर इस प्रकार के मूल रूप की कल्पना अप्रमाणित है।

अस्तु, ज्ञान से जुड़ी हुई वैदिक और ऐतिहासिक आर्ष काव्य की परम्परा का स्थान लौकिक काव्य ने क्रमशः लिया जिसमें लोक-- कवि, और पंडित कवियों का योगदान था। इस काव्य की अवधारणा इतिवृत्त और शास्त्र दोनों से पृथक् थी। वह न वस्तुवर्णनात्मक थी, न कर्मनिर्देशात्मक। उसमें भावानुगुण कल्पना का प्राधान्य और अलंकृत शब्दमय रूप का विधान था। उसमें आस्वाद्यता क्रमशः उसका परमार्थ मानी गयी और उसकी रचना में कल्पना एवं अलंकरण की प्रवृत्ति बढ़ती चली गयी। अन्ततोगत्वा वह आत्म-प्रबोधक और मार्मिक रचना के स्थान पर पाण्डित्यपूर्ण, अलंकृत और भावुक मनोरंजक रचना रह गयी। प्राचीन पश्चिम में हैलेनिस्टिक और रोमन युग की रचनाएं सामानान्तर कही जा सकती हैं।

काव्य के विकास के ये तीन **चरण** तीन सांस्कृतिक युगों की पुरुषार्थ-प्रवृत्तियों से जुड़े हैं, आर्षकाव्य ज्ञान और धर्म की साधना से, इतिहास-काव्य धर्म और अर्थ से, "लौकिक काव्य" मुख्यतया अर्थ और काम से। प्रथम युग में काव्य मंत्र द्रष्टाओं की सृष्टि थी, ऋतचित् की सहज प्रेरणा। श्री अरविन्द ने इस प्रकार की रचना की विस्तृत व्याख्या की है जिससे यह स्पष्ट है कि स्वरूपतः यह किसी ऐतिहासिक युग विशेष तक सीमित नहीं है बल्कि चेतना के एक स्तर से निस्सृत होती है। इतिहास-काव्य में मानव स्वभाव और कर्म के भेद की सूक्ष्म गति प्रत्यक्षवत् निदर्शन एक सनातन इतिहास-विश्व की सृष्टि प्रस्तुत करता है मानो एक अपर प्राजापत्य सर्ग हो। श्री अरविन्द ने इस सर्जना को **डेमिअर्जिक** कहा है। इन युगों में साम और गान्धर्व संगीत का विकास अदृष्ट-साधना, देव-यजन और ऋत-संवाद से सन्दर्भित-विशेषित था। गान्धर्व में ताल का अद्‌भुत विस्तार लक्षणीय है। यद्यपि इन युगों में शिल्प की अद्‌भुत कृतियों का उल्लेख मिलता है, उसके काष्ठादि नश्वर उपादान से जुड़े होने के कारण वह अब शेष नहीं है।

लौकिक काव्य के युग में रूप-कल्पना के विकास का उत्कर्ष मिलता है जिसके कई चरण देखे जा सकते हैं। यक्ष-यक्षी, बुद्ध-बोधिसत्व और देवी-देवताओं की उपासना और ध्यान के संदर्भ से जुड़ी प्रतिमाओं, स्मारकों और आयतनों के अनन्त वैचित्र्यमय विश्व का जो आविर्भाव हुआ उसमें रूप-भेद, लक्षण, प्रमाण, अलंकरण, भाव-लावण्य-योजना आदि अनेक आयाम परिस्फुट हुए। इस कला-परम्परा में मूलतः रूप एक अतिक्रामी अर्थ का मूर्त संकेत बन जाता है। इसमें तत्व की अतिक्रामिता और व्यापकता में कोई वैसा विरोध नहीं देखा गया है जैसे विरोध का आरोप हेगेल ने लगाया है। हेगेल को परमार्थ का यथावत् अवतरण अन्ततः अपने तार्किक विचारों में ही दीखता था। वह रूपोत्कीर्ण षड्दन्त

जातक की मार्मिकता से अपरिचित था। रूपकारिता की भारतीय परम्परा में अत्यन्त प्राचीन काल से ही चेतना, प्राम और छन्द का महत्व रहा है, न कि यथादृष्ट निरूपण का। प्रत्यक्ष आभास के सदृश रचनाएं अविदित नहीं थीं पर जात्य कला में आलोक-सामान्य सादृश्य ही संमत था। इस भाव और कल्पना-प्रधान युग का संगीत गान्धर्व और उसकी अदृष्ट साधना से हट कर गान की रंजक विधाओं में रूपान्तरित हो गया था जिसमें लोक-प्रचलित लक्ष्यों के साथ शास्त्रीय लक्षणों के संयोग से एक अपूर्व संगीत का विस्तार हुआ। जैसे काव्य एवं रूप कलाओं में भाव, कल्पना और अलंकरण की प्रवृत्ति बलवती होती हुई भी प्राचीन उदात्त पुरुषार्थ-साधना से सर्वथा विच्छिन्न नहीं थी, ऐसे ही संगीत में भी एक नाद-साधना का अविच्छेद बना हुआ था। मध्यकाल से आधुनिक भाषाओं के विकास के साथ प्राचीन संस्कृति-चक्र का यह क्रम एक दूसरे तद्‌भव संस्कृति-चक्र में प्रविष्ट होता है। सिद्ध-संत वाणी, रामायण-महाभारत-भागवत की भाषान्तर प्रस्तुति, रीतिबद्ध रचनाएं इस क्रम को प्रदर्शित करती हैं। इस क्रम में सहज ज्ञान, जातीय आदर्शों की भावना और दरबारी एवं आलंकारिक-संमत रीति की भूमिकाएं देखी जा सकती हैं। आधुनिक युग की संस्कृति-चक्रात्मक स्थिति अभी अस्पष्ट है--परम्परा का सुधार, उसका अन्त, नव-निर्णाण या पश्चिमी परम्परा में परिशिष्टात्मक विलय, इन प्रवृत्तियों में भविष्य किसकी पुष्टि करेगा यह अभी विवाद का ही विषय हो सकता है।

संक्षेप में भारतीय कला-विश्व के विकास को दो चरणों में बाँटा जा सकता है, जिनको आर्ष और लौकिक कहना अनुपयुक्त न होगा। आर्ष चरण में साक्षात्कार-मूलक तत्व और छन्द-प्रधान मंत्रात्मक, देवाख्यानात्मक अथवा सनातन, या जातीय-इतिहासात्मक निदर्शन विरचित मिलते हैं जो कि आध्यात्मिक-नैतिक साधना के संदर्भ में प्रामाणिक किन्तु व्याख्यापेक्ष ज्ञान संप्रेषित करते हैं। इस प्रकार की रचना के उदाहरण वेद, इतिहास-पुराण सौर सन्तवाणी में विशेष रूप से देखे जा सकते हैं। यह परम्परा सभी युगों में मिलती आयी है, वेदों, उपनिषदों, त्रिपिटिक से लिकर **दिव्यप्रबंधम्, भागवत, लल्लावाक्यानि, रामचरितमानस, रामप्रसाद के गीत,** श्री अरविन्द की **सावित्री** तक यह विस्तृत है। इस काव्य परंपरा की सहभावी परंपरा संगीत की थी जिसमें आनुष्ठानिक-उपासनात्मक, ध्यानात्मक तन्मयता का प्राधान्य था, और जो साम, गान्धर्व एवं भजन-कीर्तन आदि की परवर्ती परंपरा में अनुसंतत है। जाति और राग, ताल और गान-शैली आदि के बदले जाने पर भी उसमें एक अन्तर्मुखी छन्दोमय नादसाधना बनी रही है।

लौकिक चरण में कल्पना, भाव, रूप, अलंकरण और रीति प्रधान हैं, और उसका संदर्भ सामान्यतया त्रिवर्ग से जुड़ा होने पर भी अधिकाधिक लोक-नीति की

परिधि में अर्थ-काम से जुड़ा है। इसमें लोक-नीति, मंनोरंजन, चमत्कार, पांडित्य, विदग्धता और सचेष्ट आकर्षकता का प्राधान्य है। मध्यकाल में मुस्लिम परम्पराओं से संपर्क ने और आधुनिक युग में पाश्चात्य सभ्यता के सैलाब ने नयी ऐतिहासिक परिस्थितियाँ उत्पन्न की हैं। अभूतपूर्व सामाजिक परिवर्तनों से ऐसा लगता है कि वर्तमान परिस्थिति सिर्फ पारम्परिक इतिहास के प्रकाश में आकलनीय नहीं है। आधुनिक कवियों में क्या द्रष्टा या नबी खोजे जा सकते हैं, या कि विज्ञान ने उस संभावना को ही निरस्त कर दिया है, इस प्रश्न का कोई सर्वमान्य उत्तर नहीं है। औद्योगिक सभ्यता के सघन प्रसार के बाद क्या विकल्प-अपराहत, सहज-सहृदय, जन-समाज शेष रहेगा? अथवा व्यंग्यात्मक या उत्तेजक गद्य अथवा वितर्क-विश्रृंखल "गद्य-कविता" की अतियथार्थवादी प्रवृत्तियाँ एक अपूर्व युग की सूचना हैं?

आर्ष और लौकिक दोनों ही परंपराओं को उनके कलात्मक मूल्यबोध की दृष्टि से विभिन्न अर्थों में रससृष्टि की परंपराएँ कहा जा सकता है। वैदिक "रसो वै सः" और भरत के रससूत्र की पारमार्थिक एकवाक्यता अंततः भक्ति-रस की अवधारणा से स्पष्ट होती है।[1] यह रससृष्टि शब्द, नाद और रूप के माध्यम से तीन विविक्त साधनाओं में प्रकट हुयी है। तीनों के ही साथ रस-दृष्टि का संयोजन किया गया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय कला-विश्व की अनुभूति पर आश्रित पारंपरिक विचारधारा का निर्गलितार्थ रस-पदवाच्य है। रस को प्रकाशित करने वाली शब्द, नाद अथवा रूप की रचनाएँ ही उत्तमकोटिक कला कही जानी चाहिए और रस ही कला का चरम अर्थ एवं सौन्दर्य शब्द का वास्तविक लक्ष्य माना जाना चाहिए।

ऐतिहासिक युग-चक्रों में संलक्ष्य कला-क्रम को संभवतः पश्चिमी संस्कृति के **आर्केइक, हीरोइक, क्लासिकल, रोमैन्टिक** और **युगान्तवर्ती** लक्षणों से विशेषित कहना तथ्यों से दूर न होगा। पश्चिमी सभ्यता के प्राचीन चक्र में होमरिक, हैलेनिक, हैलेनिस्टिक और रोमन युगों में ये लक्षण बहुत हद तक देखे जा सकते हैं। पहले **आर्केइक-हीरेइक** युग में **एपिक** के रूप में मिश्रित देवाख्यान और वीराख्यान के निरूपण के द्वारा, जातीय कल्पना और नियति आदर्शित होती है और परवर्ती परम्परा के लिए एक स्थायी संदर्भ के रूप में प्रस्तुत रहती है। दूसरे क्लासिक युग में आदर्श रूपों (**आइडियल फोर्मस, आर्केटाइप्स**) के अनुसार सृष्टि के द्वारा जातीय संस्कृति के वक्तव्य को पारमार्थिक, सार्वभौम स्तर पर व्यक्त किया

१ द्र० प्रस्तुत लेखक का *भक्ति-दर्शन-विमर्शः* (संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी)।

जाता है। तीसरे रोमैन्टिक चरण में आत्मपरक कल्पना या आत्मोल्लेखी भाव की व्यंजना प्रधान बनने लगती है। चौथे युगान्तवर्ती चरण में आत्मनिमग्नता, संशय, अनास्था, खोज, अत्युक्ति, विद्रोह, आदि से प्रेरित नाना प्रकार के प्रयोग देखने में आते हैं। श्रद्धामूल सहज दृष्टि-संयत बौद्धिक ज्ञान, संयत भाव, और असंयत भाव या भावुकता से ये विभिन्न चरण लक्षित हैं। आद्य चरण संस्कृति की प्रारंभिक अवस्था का है जिसमें श्रद्धा, वीरता और सर्जना का प्राधान्य रहता है। द्वितीय और तृतीय चरणों में मूल धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक दृष्टियों का विकास, विद्याओं और कलाओं का विभाजन और उनमें लक्षणों और प्रमाणों का निर्धारण देखा जा सकता है। अन्तिम चरण संस्कृति के ह्रास का चरण है जिसमें विज्ञान और प्रविधि का विकास किन्तु श्रद्धा और पुराने प्रतिमानों का ह्रास होने लगता है और एक नयी दृष्टि की खोज होने लगती है। श्रद्धा के परिवेश में विद्याओं और आदर्श रूपों (**आइडियल टाइप्स**) की सर्जना से आगे बढ़कर अब संस्कृति बुद्धिनिर्धारित आदर्श-तत्वों के प्रतियोगी रूपों को लक्षण-प्रमाण से व्यवस्थित करती है। फिर वैज्ञानिक प्रगति और शास्त्र-व्यवस्थापन से अन्तर्विभक्त चेतना के लिए भाव के संवेदनात्मक और सापेक्ष स्तर पर उपलब्ध मानवीय सत्य का तार्किक सत्य से अलगाव प्रकट होने लगता है जिसकी परिणति एक विखंडन की अवस्था में होती है। आद्य युग में मानवीय आदर्श की कल्पना देव-सहचर ज्ञानी, पुरोहित और वीर योद्धा की तरह रहती है। जात्य या क्लासिक युग में देवता या तो तत्व माने जाते हैं या उन्हें आदर्श मानव का रूप दिया जाता है। इसके बाद क्रमशः मानवीय प्रतिमा केन्द्रीय विषय के रूप में उभरती है और भाव की वृत्तियों में विखंडित होने लगती है।

संस्कृति अथवा कला के विकास को इन चरणों में बाँटने एवं उस विभाजन के दिये गये हेतुओं के विरोध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। संस्कृतियाँ और उनके चरण मिले-जुले रहते हैं। इसी प्रकार यदि पर्याप्त जानकारी हो तो बहुत से युगों में कला की अप्रत्याशित कृतियाँ और भंगुर विधाएं मिल सकती हैं। एक ही युग में विभिन्न और विरोधी प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। संस्कृतियाँ के चक्र पिछली और अगली संस्कृतियों में स्पष्टतया विभक्त नहीं किये जा सकते और न अपनी समकालीन संस्कृतियों में ही उनका ऐकान्तिक विभाजन संभव है। इसलिए बहुत से इतिहासकार संस्कृतियों अथवा युगों का सामान्य निरूपण नहीं करते बल्कि नाना प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हैं। किन्तु वस्तुतः यदि इस दृष्टि के स्वारस्य का पूरी तरह अनुसरण किया जाय तो इतिहासकारों के सामने इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रहेगा कि वे प्रत्येक कलाकृति अथवा प्रत्येक घटना को अलग से

निरूपित करें। किन्तु बिना तुलना, सन्दर्भ और परिप्रेक्ष्य के किसी कृति अथवा घटना का अपनी नितान्त एकाकिता में या अद्वितीयता में वर्णन किया ही नहीं जा सकता। किसी भी कृति के वर्णन के लिए तुलनात्मक आधार पर बनी हुई पदावली चाहिए, उसके अभिप्राय और प्रोयजन को समझने के लिए उसके कर्ता और उपयोगिता का सन्दर्भ चाहिए, उसके विषय को समझने के लिए एक विचार-परम्परा चाहिए और उसकी प्रविधि को समझने के लिए एक शिल्प-परम्परा चाहिए। कलाकृति कभी **'जेउस** के माथे से संनद्ध मिनर्वा' की तरह कलाकार से आविर्भूत नहीं होती। नरसिंह को भी अपने अवतरण के लिए पूर्व विद्यामान प्राणियों का संयोजन और पिता-पुत्र के सम्बन्धों का संदर्भ लेना पड़ा था। सांस्कृतिक विषय जिनमें कला शामिल है ऐतिहासिक घटनाएं और रचनाएं होती हैं। वे सिर्फ देश-काल में नहीं बल्कि एक व्यवस्थित सामाजिक चेतना में जन्म लेते हैं और उसे रूपान्तरित करते हैं। इस प्रकार कला-विश्व को ऐतिहासिक-सामाजिक प्रवृत्तियों से निर्धारित और इन प्रवृत्तियों को एक बृहत्तर सांस्कृतिक विकास के सन्दर्भ में देखने का प्रयास उस कला-विश्व को समझने के लिए एक अनिवार्य उपाय है। यह बात अलबत्ता सही है कि सांस्कृतिक इतिहास का ज्ञान कला की विनाश-लीला के कारण संभव ही नहीं है। जो शेष है उसका भी पूरा ज्ञान काल किसी एक व्यक्ति के लिए दुष्प्राप्य है। पर, सबसे बड़ी बात यह है कि सांस्कृतिक तथ्यों का अवबोध उनकी बहुमुखता के कारण सदा ही व्याख्या-सापेक्ष रहता है। पूरी तरह से दिये और जाने हुए तथ्यों का भी ज्ञान दृष्टि-भेद से अनेक प्रकार का संभव है। उदाहरण के लिए साहित्यिक-सांस्कृतिक विकास के चरणों का विभाजन भौतिक-सामाजिक विकास के अनुसार किया गया है। पर यह विचारणीय है कि सामाजिक तथ्य किसी विचारधारा में उपनीत होकर ही साहित्यिक चेतना की अन्तर्वस्तु बनते हैं।

जैसे सांस्कृतिक इतिहास को देखन की कुछ प्रसिद्ध दृष्टियाँ अन्ततः मनुष्य के आत्मावधारण पर निर्भर करती हैं, ऐसे ही कला के लिए भी है। कला-सृष्टि, सांस्कृतिक दृष्टि और दर्शन इन तीनों में एक अन्योन्याश्रयता का अन्तरंग सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए अट्ठारहवीं सदी के **एनलाइटेनूमेंट** के युग में जो बौद्धिकता की दृष्टि प्रचलित थी उसका एक पक्ष ह्यूम में, दूसरा रूसो में देखा जा सकता है, और दोनों का समन्वय कान्ट में, जहाँ से हेगेले के विचारों का प्रारम्भ निरूपित होता है। दूसरी ओर उसी बौद्धिकता की दृष्टि ने जहाँ साक्षात् रूप से नीओक्लैसिक कला को जन्म दिया, उसने स्वगत-विरोध से ही रूमानियत को भी जन्म दिया। यदि **एनलाइटेनमेंट** और **रोमैंटिसिज्म** को दृष्टिगत प्रवृत्तियाँ माना जाय

तो कान्ट और हेगेल के दर्शनों को एवं रूमानी कला और साहित्य को समझने के लिए उनकी उपयोगी भूमिका का निषेध नहीं किया जा सकता। यह सही है कि ये प्रवृत्तियाँ ज्यामिति के सूत्रों की तरह नहीं हैं जिनसे ऐतिहासिक तथ्य, विचारात्मक या कलात्मक, विशुद्ध तार्किक रूप से निर्गत किये जा सकें। ये दृष्टियाँ प्रायः संभावनाएं हैं जिनके दृष्टान्त बहुधा मिलते हैं, जो दृष्टान्तों से रूपान्वित और जिनसे दृष्टान्त बुद्धि-संगत बनते हैं। यह भी मानवीय तथ्यों की विशेषता है कि वे किसी सामान्य से निर्गत नहीं किये जा सकते किन्तु वे कुछ अव्यक्त सामान्यों को निदर्शित करते हैं जिनसे अपनी अद्वितीयता के बावजूद वे प्रकाशित होते हैं। संक्षेप में संस्कृति, युग-प्रवृत्तियाँ, कला-विश्व, ये सभी प्रत्यय तथ्यों से अनुगमित होते हुए भी शुद्ध तार्किक या वैज्ञानिक अनुभव के निगमनीय विषय नहीं हैं। क्योंकि ये तार्किक ज्ञान के लिए अपेक्षित शुद्ध विषय ही नहीं हैं। आत्मेचतना की अभिव्यक्ति होने के कारण इतिहास, संस्कृति, कला, दर्शन आदि सभी मानवीय अनुभूति और कृतित्व के उदाहरण स्वरूपतः विषयी के सापेक्ष विषय हैं। अतः न संस्कृति को, न कला को तटस्थ रूप से देखा जा सकता है। आत्म-चेतना के प्रकार होने के कारण सांस्कृतिक विषय संकेत बन जाते हैं जिन्हें समझने के लिए उन्हें चेतना से जोड़ना आवश्यक होता है। तो भी यह सही है कि सांस्कृतिक मूल्य-साधनाएं जिनमें कला शामिल है, विवादों के घेरे में रहती हैं, यह एक अनिवार्यता प्रतीत होती है। कुछ लोग यह मानते हैं कि कला के शिखर "कालजयी" और निर्विवाद होते हैं किन्तु वस्तुतः ऐसा भी नहीं है। जो ऐसा सोचते हैं वे लोग एक आगन्तुकतया प्रत्युपस्थित सांस्कृतिक विश्व के सन्दर्भ में ऐसा सोचते हैं। महाभारत, कालिदास, बाण, बुद्धप्रतिमा, ताजमहल, सभी के विषय में विप्रतिपत्तियां व्यक्त की गयी हैं। प्रसिद्ध शिष्ट व्यक्तियों ने महाभारत को भानमती का कुनबा, कालिदास को दर्शन-विहीन, बाण को आदिम जंगल, बुद्धप्रतिमा को परिष्कारहीन, ताजमहल को चूने की खान बताया है।

सौन्दर्य मीमांसा की दिशाएं

कला के युगों और प्रवृत्तियों की जो चर्चा पहले की गई है उसका प्रयोजन कुछ मूलभूत प्रवृत्तियों और दृष्टियों को ऐतिहासिक तथ्यों के रूप में निर्धारित करना था, न कि कला का कालानुक्रम से सिलसिलेवार तथ्यात्मक इतिहास प्रस्तुत करना। ये प्रवृत्तियाँ कला के संरचनात्मक तथ्यों से ही प्रकट होती हैं यद्यपि कला के स्वरूपगत सब पक्ष सदा स्वाकार्य नहीं माने गये हैं। मूल्यवाची शब्दों के प्रयोग सदा सुविवेचित नहीं रहे हैं, और इस कारण रूप-सौष्ठव और कला-सौष्ठव के

वाचक 'सौन्दर्य' शब्द का प्रयोग भी अनेक प्रकार से किया गया है। प्रयोगमात्र से यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि वह बाह्य वस्तु का धर्म है, या प्रतीति की अन्तर्वस्तु की विशेषता है। संक्षेप में सौन्दर्य विषयक चिन्तन दो ध्रुवों या एकान्तों के बीच रखा जा सकता है। एक सौन्दर्य को सत् की प्रभा मानता है, दूसरा उसे प्रतिभास मात्र। पहले पक्ष में सत् को कभी परोक्ष देव-सत् ऋत् या **एइदौस** माना गया है, कभी अपरोक्ष मानव-सत्य-- सामान्य, व्यक्तिगत अथवा सामाजिक। इस पक्ष में कलागत सत् का निदर्शक रूप उसका प्रतीक, प्रतिबिम्ब या संकेत बन जाता है। प्रतिभास-पक्ष में कलाकृति की प्रतीति से अविलग उसकी अन्तर्वस्तु स्वयं एक स्वायत्त संसार को प्रस्तुत करती है, "नियतिकृत-नियमरहितां हलादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्"। पुरातीत वैदिक युग में अथवा ऋषियों और संतों की परम्परा में अथवा पश्चिमी अध्यात्मवादी परम्परा में कवि को ज्ञानी माना जाता है। "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।" कवि का विधान इष्ट विषयों को सनातन स्वरूप के अनुसार प्रकाशित करता है। पर कला के इस ज्ञानात्मक आदर्श के प्रकाश में ही प्लातोन ने कला को "नकल की नकल" और कवियों को अज्ञानी और झूठा बताया है। लोकोत्तर साक्षात्कार पर काव्य को आधारित मानकर उसे निगूढ ज्ञान का प्रातिपादक माना गया है, उदाहरण के लिए नाट्य को पंचम वेद कहा गया है। इस उक्ति को यद्यपि अर्थवाद भी माना जा सकता है, तो भी वेद की ज्ञानात्मकता और काव्यात्मकता अक्षत रहती है। आगमिक परम्परा से उद्भूत लक्षणों के ज्ञान पर आधारित शिल्प, और काव्य भी ज्ञानमूलक और सद्विषयक बने रहते हैं। बुद्धिगोचर तत्व पर विचार और ध्यान से अनुप्रेरित प्रतिभा लक्षणों के द्वारा उसे परिस्फुट करती है। बौद्धिक विचार और स्फुट रूप के बीच लक्षण संयोजक बनते हैं। वैचारिक तत्वपरिच्छेद (**आइडियोग्राफी**) ही मूर्तिलेखन (**आइकनोग्राफी**) का आधार सिद्ध होता है।

देववाद, अध्यात्मवाद और तत्ववाद के ढहने पर जब बुद्धि तर्क-बुद्धि और ज्ञान-विज्ञान बन गयी, कला-विषयक पारस्परिक सद्वाद को भी ग्रहण लग गया। कान्ट और अधिकांश आधुनिक विचारकों ने कला को ज्ञानात्मक मानना छोड़ दिया। वे कवि को कल्पना-प्राण मानते हैं और कान्ट ने कल्पना के एक भेद को ज्ञान में अपेक्षित और एक को अन्धशक्ति कहा है।[१] यद्यपि रोमैन्टिक धारा में

१ तु० थियोडोर मायर ग्रीन (सं०), कांट, सैलेक्शन (१९२९) पृ० ७६, ३७८, बर्नर्ड (अनु०) क्रिटीक ऑव जज्मेंट (१९३१), पृ० XXIV ।

कल्पना के एक भेद को ज्ञानशक्ति मानना अन्तर्निहित है, इस धारणा ने प्रयोग को अधिक, शास्त्र को कम प्रभावित किया जिसके दृष्टान्त कोलरिज और येट्स हैं।[१] हेगेल, क्रोचे, कॉलिंगवुड के अनुसार कला में भूतार्थ का आभास होते हुए भी उसका निर्वचन नहीं मिलता। इसलिए ये सब कला की व्याख्या-सापेक्षता के कारण उसे दर्शन से हीन स्तर पर मानते हैं।[२] प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्रीय चिन्तन में कवि-प्रतिभा को मौलिक कल्पना मानते हुए भी उसे योगशास्त्र आदि दर्शन-शास्त्र प्रसिद्ध मौलिक ज्ञान-शक्ति से भिन्न माना गया है। बुद्धिगोचर सत् के निदर्शन के स्थान पर इस प्रकार काव्य काल्पनिक प्रतिभास बन जाता है।

शिल्पी, कवि और कलाकार को सुन्दर रूप का रचनाकार तो सर्वत्र माना गया है पर यह प्रश्न उठा है कि सौन्दर्य का सत्य और श्रेयस् से क्या संबंध है। वैदिक और आगमिक भारतीय परम्परा में रूप को निगूहन और प्रकाशन का माध्यम माना गया है और शुद्ध, अभौतिक रूप को भी स्वीकार किया गया है, पर बाउमगार्टेन से प्रारम्भ होने वाली आधुनिक सौन्दर्य-मीमांसा की परम्परा में जहाँ कला सौन्दर्य से जुड़ी है, सौन्दर्य इन्द्रियगोचर विषयों तक सीमित माना गया है अर्थात् उसका क्षेत्र स्वच्छन्द प्रेस् तक सीमित है। इस प्रत्यक्षवादी, आस्वादवादी मान्यता को स्वीकार करने पर बुद्धिगोचर सत्य इन्द्रिय-गोचर रूप तक सीमित कला के द्वारा कभी नहीं बतलाया जा सकता। सौन्दर्य की यह अवधारणा ही उसे सत्य से दूर कर देती है। रूपवाद उसकी विडंबना है, यथार्थवाद और अतियथार्थवाद उसकी प्रतिक्रियाएं। यह सही है कि प्लेटो और प्लोटिनस ने सौन्दर्य को नाना-स्तरीय अनुभूति माना है किन्तु वे कला को ऐन्द्रिय स्तर पर ही सीमित कर देते हैं।[३] उनके लिए कला का प्रतिमान मूर्तिकला प्रतीत होती है। स्कोलेस्टिक चिन्तन में सौन्दर्य अतिक्रामी अर्थ है और उसकी प्रतीति ज्ञान का भेद है। जो स्वरूपतः इष्ट हो उसकी प्रतीतिमात्र सुखद या प्रिय होती है। इस प्रकार सौन्दर्य में सत्, ज्ञान और प्रियत्व एकत्र मिलते हैं।[४]

कला की अनुभूति में जो एक विलक्षण आस्वाद माना गया है और जिसे

१ तु० आई० ए० रिचर्ड्स, *कोलरिज ऑन इमैजिनेशन* ।
२ तु० कौलिंगवुड *आइडिया ऑव हिस्टरी* (क्रोचे का विवरण); तु० हेगेल *एन्सिक्लोपेदी,* पृ० ४४२ (५५६)।
३ तु० टेलर, प्लेटो, पृ० २२६ और आगे, कौपल्स्टन, *हिस्ट्री ऑव फिलॉसफी,* जि० १, पृ० ४६८।
४ तु० कॉपल्सटन, *पूर्व०* जि० २, पृ० ४२२।

भारतीय परम्परा में चमत्कार कहा गया है उसका प्रकारान्तर से स्वीकार सभी परम्पराओं में है। किन्तु इस आस्वाद का हेतु क्या है और मूल्य क्या है, इस पर विवाद सुविदित है। कलाकृति का मूल्यांकन विवादास्पद रहता है, यह भी सुविदित है, पर इस मूल्यांकन को सिर्फ निजी मत नहीं माना जा सकता। कला का मूल्यांकन पारखी के ज्ञान और समझ पर भी निर्भर करता है, यह निर्विवाद है। साथ ही उसमें सहृदयता के संस्कारों की भी भूमिका है, यह निश्चित है। इस अनुभूति के विश्लेषण की भी दो प्रसिद्ध दिशाएं भारत और अरस्तू की परम्पराओं में मिलती हैं। दोनों में ही भाव का महत्व केन्द्रीय है।

सौन्दर्यविषयक निर्णय में उसकी प्रसिद्ध विशयि-सापेक्षता और उसकी प्रतीयमान सर्वसाधारणता का संगतिपूर्वक तात्विक व्याख्यान एक महत्वपूर्ण कार्य रहा है। इस समाधान की एक दिशा सौन्दर्यनिर्णय को संप्रत्ययमुक्त और अनध्यवसायात्मक मानती है। दूसरी दिशा उसमें लोकोत्तर प्रामाणिकता खोजती है। पहली में निर्णय का विषय प्रातिभासिक, दूसरी में प्रातिभ सिद्ध होता है।

सौन्दर्यनुभूति या रसानुभूति का कलाकृति से क्या संबंध है, इस प्रश्न का उत्तर एक ओर शिल्प और संगीत के संदर्भ में प्रत्यक्ष विषयता के द्वारा दिया गया है, किन्तु यदि कला का प्रत्यक्ष सामान्य लौकिक प्रत्यक्ष सामान्य लौकिक प्रत्यक्ष ही हो तो सभी कला के प्रेक्षक उसके पारखी बन जाएँगे। दूसरी ओर उसका उत्तर काव्य और नाट्य भाषा और मिथ के संदर्भ में सांकेतिकता, अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण के द्वारा दिया गया है।[१] मूर्त संकेत या विकल्पित रूप की अवधारणाओं में ये दोनों पक्ष जुड़ते हैं। काव्यशास्त्रीय शब्द-शक्ति-विचार और बौद्ध कल्पना-विवेचना से इस प्रसंग में नवीन संकेत-विश्लेषण और अर्थ-तत्व-विश्लेषण की धाराएं तुलनीय हैं।

वर्तमान पश्चिम में द्रष्टाओं और मनीषियों की परम्परा का दर्शनशास्त्र के अध्यापकों और शोधकर्ताओं ने बहिष्कार कर भाषा विज्ञान, संकेत विज्ञान, मनोविज्ञान आदि के नये प्रकाश में काव्य और कला के प्रदत्त विषयों का ज्ञानमीमांसा, संकेतमीमांसा की दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत किया है। विश्लेषण की बारीकी और प्रौढता के बावजूद इस विश्लेषण में मानवीय स्वभाव, ज्ञान और पुरुषार्थ अथवा सामाजिक परम्परा या विश्वरचना के विषय में प्रायिक

१ उदा० का सिरेर, फिलॉसफी ऑव सिम्बलिक फॉर्म्स (अं० अनु० ३ जि०), मौरिस, साइन्स *लैंग्वेज एण्ड बिहेवियर* (१९४६)।

प्रत्यक्षवादी या ऐहिकतावादी धारणाएं पूर्वमान्यताओं के रूप में विद्यमान हैं। **मैटा फिजिकल** या पारमार्थिक तत्वविवेचन उसमें बहिष्कृत है, और कला को या तो अपने में अवच्छिन्न, एक स्वायत्त लक्षण-प्रधान व्यापार माना जाता है, या फिर उसे सामान्य लौकिक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक अनुभव का ही एक काल्पनिक रूपान्तर। पर क्या सौन्दर्य या रस की अनुभूति, काव्य और कला की रचना, प्रेम और मृत्यु जैसे विषय, इनकी समुचित व्याख्या आगमिक ज्ञान के बिना सिर्फ लौकिक प्रत्यक्ष और अनुमान के सहारे संभव है? पारमार्थिक सत्, ज्ञान और मूल्य की पारम्परिक धारणाओं का स्थान लोक-सिद्ध मानव-स्वभाव, निजी अनुभूति और सामाजिक मनोरंजन ले लेते हैं। वस्तुतः इस प्रकार के प्रयास में धार्मिक-आध्यात्मिक परम्परा के सन्दर्भ में विकसित कला-विश्व उपेक्षित रह जाता है। प्राचीन काल से चली आ रही आध्यात्मिक-धार्मिक परम्परा और उसके अन्तर्भूत कला विश्व के अनुसार मरणशील मानव के लिए किसी न किसी रूप में एक अमृत विश्व का भागी बनना संभव है और संस्कृति के सभी अंग, कला समेत, मनुष्य को इस लोकोत्तर नियति की सूचना देते हैं। लौकिक उपादान से लोकोत्तर अर्थ का संकेत करना ही कला की विशेषता है। इसके विपरीत वर्तमान काल में प्रचलित धारणा के अनुसार मनुष्य तर्कबुद्धि और सामाजिकता से विशिष्ट पशु है। उसके अनुभव और ज्ञान सभी तर्कानुगृहीत ऐन्द्रिय व्यापार पर निर्भर हैं। कला का मर्म भी मूलतः उसके प्रत्यक्षगोचर तत्वों के विश्लेषण से पता चलना चाहिए। उपादान-रचना का वैशिष्ट्य या रूप, लौकिक अनुभूति की काल्पनिक प्रस्तुति और आस्वादन, सांकेतिक संप्रेषण, सामाजिक उपयोगिता, इन पक्षों का प्रत्यक्ष-प्रधान विश्लेषण सांप्रतिक सौन्दर्यमांसा के अनुसंधान के विषय हैं।

रूप और संकेत, अर्थ और अनुभूति, निर्णय और मूल्य, ये कला-मीमांसा के किसी न किसी प्रकार से आलोच्य विषय रहे ही हैं। उनकी आलोचना की तीन प्रमुख दृष्टियां उपलब्ध होती हैं, आध्यात्मिक, बुद्धिवादी और प्रत्यक्षवादी। पहली दृष्टि से कला एक अदृष्ट अर्थ का संकेत है। उसका मूल मंत्र है "परोक्षप्रिया हि देवाः"। कुमारस्वामी और श्री अरविन्द ने इस दृष्टि का वर्तमान युग में प्रतिपादन किया है। बुद्धिवादी दृष्टि से कला आदर्श तत्व की रूपात्मक अभिव्यक्ति है जिसमें आत्मप्रत्यय अथवा विचारात्मक आदर्श अर्थ का आभासमात्र संभव है। हेगेल में यह मत सुस्पष्ट देखा जा सकता है। जैसा सुविदित है उन्होंने विभिन्न युगों के प्रत्ययों और विचारों की अभिव्यक्तियों को रेखांकित किया है। किन्तु बुद्धिवादी दृष्टि सिर्फ आदर्शवादी नहीं है। मार्क्सवादी परम्परा भी साहित्य और कला में सामाजिक चेतना और विचारधारा का प्रतिबिम्ब देखती है और उसे भौतिक यथार्थ से नियत मानती है। इस दृष्टि की प्रौढ़तम अभिव्यक्ति लुकान्च और **फ्रैंक्फोर्ट स्कूल**

में देखी जा सकती है।[1] प्रत्यक्ष वाद दृष्टि क्लाइव बैल, रोजर फ्राई, आदि विशुद्ध आकारवादियों (फोर्मेलिस्ट) में ऐकान्तिक रूप से दीखती है।[2] उससे तुलनीय है प्राचीन गुण, दोष, लक्षण आदि के विषय में आग्रह-परक आलंकारिक दृष्टि। काल्पनिकता और सांकेतिकता के व्यापकतर सिद्धान्तों से जुड़ कर इस दृष्टि का कार्य महत्वपूर्ण बन जाता है, जैसा अनेक नवीन और प्राचीन विचारकों ने अवधारित किया है। वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के प्रसंग में एवं शब्दशक्ति के विचार के प्रसंग में प्राचीन आचार्यों द्वारा संकेत और सम्प्रेषण की समस्याओं का काव्य के संदर्भ में आलोचन देखा जा सकता है जिससे अनेक नवीन विचारकों की रचनाएं तुलनीय हैं। निरुक्त और मीमांसा में एवं कल्पनातत्व के विचारक बौद्ध दार्शनिक प्रस्थानों में भी तुलनीय विवेचन मिलता है।

इन नाना मतों के बीच निर्धारण उनकी दृष्टि और मूल्यात्मक संस्कृति की सापेक्षता की कुंजी के बिना संभव नहीं है। सौन्दर्य की प्रतीति प्रायः अतर्कित, और प्रत्येता के लिए असंदिग्ध रूप से होती है। आपाततः यह प्रतीति एक पूर्वसिद्ध वस्तु की उपलब्धि होती है, और बिना किसी अतिरिक्त हेतु के आपाततः विषयि-साधारणतया स्वतः सुखात्मक होती है, विषयी को बार-बार आकृष्ट करती है और राग, इच्छा आदि के समान सविषयक चित्तवृत्ति होते हुए भी विषय-नियत ज्ञानवत् होती है। अहैतुक सुख के अतिरिक्त वह विषय के प्रति श्लाघ्यता की प्रतीति भी होती है जो एक आपाततः विषयि–निरपेक्ष निर्णय "यह सुन्दर है" इत्यादि को जन्म देती है और उसमें तारतम्य निर्णय की सम्भावना आपाततः रहती है। सौन्दर्य-प्रतीति के इन सभी पक्षों के कथन के साथ "आपाततः" यह अवच्छेद जोड़ना इसलिए आवश्यक होता है कि इन कथनों में विसंगतियां लक्षित होती हैं। यद्यपि सौन्दर्य की प्रतीति पूर्वसिद्ध विषय की उपलब्धि प्रतीत होती है, उसमें विषयी की कल्पना की भूमिका का निषेध नहीं किया जा सकता। सभी स्थलों में सभी को सौन्दर्य की समान प्रतीत नहीं होती। प्रतीति होने पर भी सब के तद्विषयक निर्णय एक से नहीं होते हैं। विषयिगत इच्छा आदि से सुन्दर प्रतीत होने वाला विषय सर्वथा विषयि-निरपेक्ष है, यह भी नहीं कहा जा सकता। दृश्याकार के रूप में विषय प्रातिभासिक प्रतीत होता है, न कि वास्तविक। उसकी वैचारिक प्रतीति शब्दादि-संकेत-संलग्न होने के कारण वस्तुनियत भी नहीं हो सकती। सौन्दर्य प्रतीति के बाह्य विषय का धर्म है या प्रतीति के अन्तर्विषय का, इनमें से प्रत्येक पक्ष का समर्थन किया गया है। विषय में प्रतीति की नियामकता उसे प्रतीति से स्वतंत्र जताती है, पर उसकी प्रतीति की विषयि-सापेक्षता उसे

१ उदा० *मीनिंग ऑव कन्टेम्परी रीयलिज्म* (अं० अनु० १९६२)।
२ ऊपर उल्लिखित।

प्रतीति की अन्तर्वस्तु जताती है। सौन्दर्य को विषय-धर्म मानने पर भी उसे किस प्रकार का पदार्थ माना जाए यह विवादास्पद है। उसे वस्तु का स्वभाव, गुण, सामान्य, आकार अथवा संबन्ध माना गया है। पर सौन्दर्य की मूल्यात्मकता उसे प्रत्यक्षगोचर कार्यकारण-भाव-परतंत्र वस्तु से पृथक करती है। उसकी प्रतीति को ज्ञान, भ्रान्ति, आरोप, भावना अथवा कल्पना कहा गया है और इन सबसे विलक्षण भी। ज्ञान मानने पर उसकी प्रतीति को प्रत्यक्ष, अनुमान, भ्रान्ति, अनुव्यवसाय, सादृश्यज्ञान, संकेतार्थज्ञान अथवा प्रतिभान माना गया है। पर सौन्दर्य-प्रतीति में विषय यथार्थ देशकाल में अनवधारित रहता है। अतः उस प्रतीति को ज्ञानात्मक न मानकर कल्पनात्मक मानना ही ठीक होगा। पर यह कल्पना संकेत विज्ञान-पुरस्सर और प्रतिभान-पर्यवसायिनी होती है। सौन्दर्य का कला से सम्बन्ध होने के कारण कला-विषयक विवाद भी सौन्दर्य के प्रत्यय के अवधारण की परिधि में है। कला को रचना, कल्पना, आभास, अथवा अनुकृति कहा गया है।[1] ये पक्ष आवश्यक रूप से परस्पर परिहार नहीं करते। रचनादि मानने पर उसकी निष्पत्ति किसमें होती है, संकेत, प्रतीक, व्यंजक या रूपमात्र में यह विचार्य रहता है। संभवतः यह कहना निरपवाद होगा कि रचनापन्न उपादान या माध्यम और उससे संप्रेष्य मूल्य, इसी द्वैत में कला निष्पन्न होती है।

इस प्रकार सौन्दर्य की प्रतीति, निर्धारण और मूल्यांकन तीनों ही व्यक्तियों और परम्पराओं में विभिन्न रूप से पाये जाते हैं। पहले यह तर्क किया गया था कि सौन्दर्य-शास्त्रीय सिद्धान्त दार्शनिक दृष्टि और सांस्कृतिक कला-विश्व की अनुभूति के सापेक्ष है। कला-विश्व के इतिहास में दैशिक और कालिक आगन्तुकता के बावजूद कुछ सामान्य प्रवृत्तियां बार-बार दीखती हैं, और उनमें प्रायः एक प्रकार की चक्राकार गति भी प्रतीत होती है। संस्कृति की अपेक्षाकृत सरल अवस्था में प्रातिभ सर्जना के शिखरों से उद्‌भूत होकर काव्यधारा बुद्धि और शास्त्र के सुपरिष्कृत घाटों से गुजरती है और जातीय आदर्शों को प्रामाणिक रूप से अभिव्यक्त करती है। तीसरी अवस्था में वह भावुकता, आलंकारिकता और प्रयोगात्मकता के मोड़ों में खो जाती है। ये तीन प्रकार युग-चक्रों की अवस्थाओं के रूप में भी मिलते हैं और मात्र प्रवृत्तियों के रूप में भी। युग-चक्रों का ऐतिहासिक विवेक और विभाजन स्पष्ट न होने के कारण बहुधा उनको प्रवृत्ति के रूप में लेना संगत प्रतीत होता है, यद्यपि उन प्रवृत्तियों को युग-संदर्भ से सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता है, न ही प्रवृत्तियों को सदा विभक्त रूप में ही लक्षित किया जा सकता है। किसी भी रचना-परम्परा में उन्मेष, उत्कर्ष और परिणति की

१ द्र० प्रस्तुत लेख की *मूल्यमीमांसा* (जयपुर, १९७२)।

अवस्थायें देखी जा सकती हैं। किन्तु यही परम्परा जब ऐतिहासिक रूप में मिलती है तो उसमें इन अवस्थाओं का विवेक निश्चित रूप से नहीं किया जा सकता। क्यों कि उनमें एक निरन्तरता, पुनरावृत्ति, अनुकृति, सुधार, संकर, अपूर्वता आदि अनेक लक्षण विद्यमान रहते हैं। और फिर, इस प्रकार की रचना-परम्परा अन्य रचना-परम्पराओं से और नाना प्रकार की सांस्कृतिक परम्पराओं से मिली जुली रहती है। और सबके विकास-चक्र समकालिक नहीं होते। उदाहरण के लिए वाल्मीकि, कालिदास और माघ; सरह, तुलसीदास, और केशवदास; वर्डस्वर्थ, टेनिसन, और प्रारंभिक येट्स को इन त्रिविध प्रवृत्तियों के निदर्शन के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। वास्तुकला में गुप्तकालीन मंदिर, राष्ट्रकूट कालीन एलोरा का मंदिर और कोनार्क का सूर्य मंदिर इसी त्रिविधता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। मूर्तिकला में शुंग-सातवाहन, गुप्त-चालुक्य और चंदेल-गाहडवार युगों में इसी प्रकार का प्रवृत्ति-भेद और लक्षण-भेद देखा जा सकता है। संगीत में साम, गान्धर्व और गान के युगों में इसी प्रकार की त्रिविधता मिलती है। पर यह स्मरणीय है कि इस प्रसंग में ऐतिहासिक उदाहरणों की प्रस्तुति विवाद से बाहर नहीं हो सकती। क्योंकि ऐतिहासिक वस्तु कभी भी किसी सामान्य लक्षण या साधारण प्रवृत्ति का सर्वमान्य उदाहरण नहीं हो सकती। यह सुविदित है कि दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत कोई भी वास्तविक विषय कभी सर्वात्मना दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक-भाव के अन्दर नहीं रखा जा सकता है।

इन तीन प्रवृत्तियों या लक्षणों को संक्षेप में आदर्श तत्वों की उद्भावना, व्यवस्थित आदर्शों की भावना, और इन के तुल्य रूप-कल्पना, और अपूर्व रूप-विधान के प्रयोगों के अनुकूल अर्थ और रूप-सौन्दर्य की खोज के द्वारा परिभाषित किया जा सकता है। इन तीन प्रवृत्तियों के अनुकूल ही सौन्दर्यशास्त्रीय विचार की तीन पूर्वोल्लिखित प्रमुख धाराएं हैं। इनमें पहले प्रकार की वैचारिक प्रवृत्ति आर्षकाव्य की कल्पना में देखी जा सकती है। शैली (Shelley) ने जब कवियों को नबी घोषित किया था, तो उसमें यही दृष्टि लक्षित की जा सकती है। पर मानवीय संस्कृति के आदियुग के बाद बुद्धि प्रधान विचारक गण कवियों में ऋषित्व की कल्पना का प्रायः समर्थन नहीं करते हैं। प्रतिभा को सत्य साक्षात्कारात्मक प्रज्ञा के रूप में अनेक शास्त्रों में देखा गया है, किन्तु-कवि-प्रतिभा को विशद कल्पना ही माना गया है। उसमें पारमार्थिक तत्व के साक्षात्कार की शक्ति नहीं देखी गयी है। इसलिए लौकिक भाषा में होते हुए भी आर्ष काव्य को शास्त्र माना गया है। जबकि उनके बाहर काव्य और शास्त्र का भेद नियत रूप से स्वीकार किया गया। नाट्य को पंचम वेद अवश्य कहते हैं किन्तु परवर्ती व्याख्याकारों के लिए नाट्य मनोरंजन एवं उससे सम्पृक्त नीति-रूप उपदेश के

साधन माने गये। "कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजे।" अर्थात् कवि के वचन में सत्य-द्रष्टा का आदेशात्मक स्वर नहीं होता बल्कि अनुभवी और प्राज्ञ व्यक्ति का अभिमत या परामर्श होता है। इसीलिए संस्कृति के आदियुग के पश्चाद्‌वर्ती परम्परा-चक्रों मे आर्ष-काव्य प्रायः लुप्त हो जाते हैं। उसके स्थान पर एक नयी सांस्कृतिक दृष्टि के अनुसार आदर्शों की उद्‌भावना ही उन्मेष-युगीन काव्य का लक्षण बन जाता है।

अभिव्यक्तिवादी चिन्तन अनेक धाराओं में मिलता है। एक को आदर्श या सामान्य-लक्षण प्रधान कह सकते हैं जिसे कि **क्लैसिक** या श्रेण्य भी कहा गया है। दूसरी अवान्तर धारा भाव-प्रधान अभिव्यक्तिवाद की है जिसे प्रायः रौमेन्टिसिज्म से जोड़ा गया है। उदाहरण के लिए क्रोचे ने प्रतिपादित किया है कि जहां काल्पनिक प्रतिभान आकार-प्रधान होता है वहां कला का क्लैसिक रूप होता है, जहाँ वह भाव-प्रधान होता है वहाँ वह रौमेन्टिक बन जाता है।[१]

किन्तु अभिव्यंग्य विषय आदर्श लक्षण या भाव ही नहीं बल्कि व्यक्तिगत स्वभाव या सामाजिक अवस्था के रूप में यथार्थ भी माना गया है। व्यंग्य सामान्य हो या विशेष, आदर्श हो या यथार्थ, सामाजिक या वैयक्तिक, उसे सदा ही मानव स्वभाव और भावों से संबद्ध होकर ही काव्यात्मक या कलात्मक अभिव्यक्ति का अर्थ बनना होता है। यदि पारमार्थिक संकेत-प्रतीकवाद की दृष्टि से काव्य साक्षात्कृत सत्य का संकेत है, तो अभिव्यक्तिवादी दृष्टि से वह भावात्मक मानवीय मूल्य का व्यंजक है। दोनों में ही काव्य अथवा कला में प्रस्तुति किसी मूल्यात्मक अर्थ की व्यंजना करती है, वह अर्थ दिव्य अथवा मानवीय। अभिव्यक्तिवादी दृष्टि में व्यंजक और व्यंग्य का समप्राधान्य होता है और दोनों का संमिलित आस्वाद होता है। व्यंजक अपने अर्थ से अभिन्न होकर उसका मूर्तरूप बन जाता है। पारमार्थिक सांकेतिक दृष्टि में वैदिक देवताओं और ऋत के समान ही अर्थ की अतिक्रामिता और शब्द या प्रतीक की सहज सांकेतिकता बनी रहती है। तीसरी दृष्टि से काव्य या कला में प्रस्तुत रचना अथवा रूप का ही महत्व प्रधान है। काव्य और कला रचना, प्रस्तुति या प्रयोग के रूप में स्वतः मूल्यात्मक हैं, मूल्य की मूर्तियां हैं। वे किसी अन्य अर्थ, तत्व, भाव आदि के संकेत न होकर स्वयं ही सौन्दर्य प्रतीति के विषय हैं। इसी में रूपवाद, लक्षणवाद, अलंकारवाद या फौर्मेलिज्म शामिल किए जा सकते हैं।

इस प्रकार सौन्दर्य की प्रतीति के विश्लेषण में दो मुख्य तत्व अनिवार्यतया उभरते हैं- एक तो प्रतीयमान रूप और दूसरा उसके द्वारा व्यंग्य मूल्य जो कि प्रायः भावात्मक मानवीय सत्य के रूप में स्पृहणीय होता है।

१ क्रोचे, *इस्थेटिक* (अं० अनु० न्यूयार्क, १९५३)।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा व्याख्यान माला

व्याख्यान-२

सांस्कृतिक भूमिका

साहित्यिक रचना और सांस्कृतिक विश्व की संरचना

साहित्य-रचना और समीक्षा अनिवार्यतया न केवल रचनाकार और समीक्षक की चेतना से जुड़ी हैं बल्कि एक बृहद्तर चेतना से जुड़ी हैं जिसका एक अंश सामाजिक, दूसरा कई अर्थों में अतिसामाजिक होता है। अभिनव की एक प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार रचनाकार की कारयित्री प्रतिभा और सहृदय की भावयित्री प्रतिभा दोनों एक ही सारस्वत तत्व के दो पक्ष हैं जिन्हें प्रख्या और उपाख्या कहा गया है--

"क्रमात् प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत्
सरस्वत्यास्तत्वं कविसहृदयाख्यं विजयते।"
इसी के तुल्य है आनन्दवर्धन की उक्ति--
"या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।"

(ध्वनि०, ३.४६, पृ० २५६)

इसका तात्पर्य यह माना जा सकता है कि साहित्य-संसार में व्याप्त एक ही चेतना प्रतिभा को प्रेरित करती है और उसके विवेचन का आधार भी बनती है। वह साहित्यकार के लिए लक्ष्य, दिशा, और उपादान देती है और साथ ही गुणदोष-विवेचन के प्रतिमान उपस्थित करती है।

साहित्य-संसार से मेरा तात्पर्य यहां साहित्यकल्पित संसार से नहीं है बल्कि उस ऐतिहासिक-सामाजिक विश्व से है जिसमें साहित्य की रचना और समीक्षा होती है। यह विश्व एक विशिष्ट ऐतिहासिक युग और परम्परा की चेतना के सूत्र में संग्रथित संस्कृति-विश्व का एक विभाग है। अन्तर्वैयक्तिक चेतना में संप्रेष्य अर्थ और संकेत के रूप में यह विश्व विधृत है। इस चेतना में व्यक्तिगत सामाजिक और सार्वभौमिक सूत्र वैसे ही जुड़े रहते हैं जैसे अर्थ-विश्व में वस्तु-विकल्प और मूल्य विकल्प[1] अपनी प्रमाण-वृत्ति में यह चेतना एक व्यवहारानुगुण विषय-विश्व का अवधारण करती है जो अपने रूप में चेतनापेक्ष होते हुए भी सत्तया स्वतंत्र

१ विकल्प=वैचारिक कल्पना, निर्णय ।

अवधारित है। द्रव्यसत् अथवा परिच्छेद्य आकारिक विषयों का यह विश्व ही तर्कोपबृंहित प्रत्यक्ष का गोचर, कर्म-जगत् एवं वैज्ञानिक प्रमेयों का जगत् है। जिस चेतना में यह जगत् विधृत है वह सम्भाव्यतया विश्वजनीन है और अतः यह जगत् भी एक निरपेक्ष वस्तु-जगत् प्रतीत होता है। व्यक्तिगत होते हुए भी उसकी विधारक चेतना अपनी सविषयता और सांकेतिकता के कारण वस्तुपरक और सामाजिक है। इसकी परिधि पर बाह्य वस्तूल्लेखी प्रतिभास और आलोच्य-संप्रेष्य विषयवस्तु के रूप में विकल्पित अर्थ-योजना उपलब्ध होती है। इच्छा, ज्ञान और कर्म की वृत्तियों से संगुणित इस चेतनासूत्र का केन्द्र स्वसंवेदन या अहंबुद्धि में होता है। वह न सिर्फ देहादि वाह्य-वस्तुपरक प्रतिभासों का विकल्प है, न प्रतिभासों की सामान्य संप्रत्ययात्मक अन्विति का परामर्श-मात्र है। न वह सिर्फ विषयमात्र के साक्षित्व का परामर्श है। वह प्रमाता के रूप में देश-काल-निमित्त (कारण) आदि "प्रागनुभविक" (अनादि) विकल्पों के द्वारा वस्तुसत्ता का परिच्छेदक है। सत् को गढ़नेवाले आकारिक सांचे उस ही की देन हैं। जैसे अहंप्रतीति का गोचर विषयी प्रमातृत्व से परिगृहीत है, ऐसे ही वह कर्तृत्व और एषितृत्व से परिगृहीत है। ज्ञान की मूल संप्रत्यय-योजनाओं के समान ही कर्म-विषयक विवेक के मूल प्रत्यय भी सहज हैं। ऐसे ही एषणा के मूल प्रकार भी अनादिवासनाओं के रूप में इष्टार्थता के अवच्छेदक हैं। कर्म-साधन के संदर्भ में वस्तुत्व-अवस्तुत्व के तार्किक निर्धारण के समानान्तर ही इष्टार्थता के संदर्भ में अर्थानर्थ का विवेचन होता है। जैसे व्यवहार के सन्दर्भ में प्रत्यक्षपूर्वक तर्कबुद्धि मूल संप्रत्ययों के परिप्रेक्ष्य में वस्तुता का निर्धारण करती है ऐसे ही एषणा के संदर्भ में अपरोक्षानुभूतिपूर्वक विवेकबुद्धि उचित इष्ट-विषयता या "मूल्य" का निर्धारण करती है। अपरोक्षानुभूति से यहां मानस प्रत्यक्ष, अनुव्यवसाय, स्वसंवेदन या स्वानुभूति आदि समस्त आत्मपरामर्श की स्थितियां अभिप्रेत हैं।

यदि ज्ञानगोचर मात्र को विषय, संप्रेष्य विषय को अर्थ और व्यावहारिक अर्थ को वस्तु कहें तो यह कहा जा सकता है कि विषय-विश्व के अन्दर अर्थ-विश्व, और वस्तु-विश्व दोनों ही एक दूसरे को काटते हुए और अंशतः अन्तर्भुक्त करते हुए दो वृत्त माने जा सकते हैं। उदाहरण के लिए क्षण-विशेष निर्विकल्प प्रत्यक्ष का विषय होते हुए भी संप्रेष्य या संकेतगोचर न होने के कारण अर्थ-विश्व के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। दूसरी ओर काल्पनिक विषय अर्थ होते हुए भी वस्तु-विश्व के बाहर हैं। साथ ही सभी अर्थ और वस्तु किसी न

किसी रूप में संभाव्य प्रतिभास के विषय अवश्य हैं, यहां तक की आत्मा भी अहंप्रत्यय का विषय है। पर यह स्मरणीय है कि आत्मा की विषयता उसकी नित्य अपरोक्षता है, और अनात्मविषयों की जन्य-ज्ञान-विषयता से स्वरूपतः भिन्न है। जैसे वस्तुता को स्थगित कर व्यावृत्तियों या विशुद्ध सम्प्रत्ययों के आकारिक विश्व कल्पनीय हैं जिनमें वस्तुजगत् के तत्व, नियम और प्रतिमान देखे जा सकते हैं, ऐसे ही इष्ट विषयों की वस्तु-सन्दर्भ में प्रदत्तता की उपेक्षा कर मूल्य-विश्व कल्पनीय हैं जिनमें एषणात्मक जीवन् की संभावनाएं उजागर होती हैं।

वस्तु, तत्व और मूल्य, तीनों ही प्रतिभास-विकल्प हैं और संप्रेष्य अर्थ के रूप में उपलब्ध होते हैं। वस्तु-विकल्प में विषय विकल्पातीत, विकल्पनियामक और स्वायत्त माना जाता है और ये विकल्प ऐन्द्रिय प्रतिभासों पर आधारित प्रत्यक्ष कर्मात्मक व्यवहार के उपयोगी होते हैं। इन वस्तु-विकल्पों में प्रदर्शित जगत् ही लौकिक-व्यावहारिक जीवन का वाह्य देश-काल में अवस्थित प्राकृतिक जगत् है। उसमें अन्तर्निहित है तत्व-विकल्पों का विश्व जो वैज्ञानिक या शास्त्रीय तर्क का गोचर है। मूल्य-विकल्प आत्मप्रतिभासों पर आधारित हैं और संस्कृति-विश्व की रचना करते हैं। व्यावहारिक कर्तृत्व की चेतना के प्रत्यक्ष तथ्य-जगत् में वास्तविकता की कसौटी कार्योत्पादकता के रूप में मिलती है। प्रमाता की शास्त्रीय चेतना के तर्कगोचर, सविकल्प ज्ञान के अविनाभूत तत्व-जगत् में सत्य की कसौटी अविसंवाद के रूप में मिलती है। व्यवहार की भाषा सामान्य भाषा है जिसमें अर्थ को प्रायः वस्तु-जगत् का अन्तःपाती विषय मान लिया जाता है। शास्त्र की भाषा इस भाषा के अन्तर्गत एक परिभाषात्मक विभाषा कही जा सकती है। यदि व्यवहार की भाषा का गुण उसकी सर्वसुगमता और अनुभव के ठोस पदार्थों से स्पष्ट संबन्ध है, तो शास्त्रीय भाषा का गुण उसकी निश्चितार्थता और अविरुद्धता है। इन दोनों ही से भिन्न है आदर्श-मूल्यात्मक संस्कृति का साहित्य-कलात्मक विश्व जो एषणात्मक-भावात्मक चेतना के अपरोक्ष प्रतिभान और आत्मपरामर्शात्मक आलोचन का विषय है। उसकी भाषा प्रधानतया अप्रत्यक्ष निर्देश की भाषा होती है जिसमें संकेत, प्रतीक और प्रतिबिम्ब का उपयोग होता है। ये तीनों ही विश्व प्रतिभास-निबंधन हैं और विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं से प्रयोजनानुरूप चेतना के द्वारा रचे जाते हैं। प्रतिभास के पारमार्थिक हेतु के रूप में कल्पित देश-काल-क्रियात्मक "क्षण" ईश्वरीय चेतना से कल्पित है और उस पर आरोपित सांवृत विकल्प मानव-जातीय एवं सामाजिक चेतना में विधृत हैं। तत्व-विकल्प

भाषा-संकेत पर आश्रित व्यावृत्तिप्रधान मानवीय बौद्धिक चेतना का व्यापक है। सांस्कृतिक मूल्य-कल्पना के आत्म-भावना का रूप होने के कारण उसमें ईश्वरीय, मानवजातीय एवं विशिष्ट-सामाजिक, तीनों स्तरों की चेतना का कार्य है। उसके साहित्य-कलात्मक अवान्तर विभाग में व्यक्तिगत चेतना की अनिवार्य भूमिका भी महत्वपूर्ण लक्षित होती है।

प्रमातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व से उपाहित साक्षी के रूप में अखंड होते हुए भी मानवीय चेतना में अनेक विभाग और उनके पदार्थों का परस्पर अध्यास मिलता है। प्रतिभास और विकल्प, अहं और इदं, वस्तु और मूल्य, शब्द, अर्थ और प्रत्यय, इनकी सहज संकीर्णता उस चेतना का मानवीय स्तर पर एक व्यापक रचना-सूत्र है जिसके फलस्वरूप व्यावहारिक कर्म-भोग, शास्त्रीय प्रज्ञा और साहित्यिक प्रतिभा के आयाम भी न्यूनाधिकतया मिलीजुली स्थिति में उपलब्ध होते हैं। साहित्यिक संसार भी फलतः व्यावहारिक विश्व से भिन्नाभिन्नतया ही सत्ता-लाभ करता है। रचना-प्रक्रिया के आयाम व्यावहारिक वस्तुजगत् और काल्पनिक अर्थजगत् का यह पारस्परिक अनुवेध रचना-प्रक्रिया के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है। मम्मट की प्रसिद्ध उक्ति है--

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे।।"

यद्यपि काव्य का साक्षात् और विशेष फल सद्यःपरनिर्वृति ही मानी गयी है और इसलिए उसे ही उसका मूल प्रयोजन माना जाना चाहिए, अन्य उसके कार्य, जो प्रकारान्तर से भी प्राप्य हैं, यहाँ काव्य के प्रयोजनीय लक्ष्यों में मनोवैज्ञानिक तथ्यों के रूप में उल्लिखित हैं। मम्मट मानते हैं कि अपने को "कवियशःप्रार्थी" कह कर कवि-कुल-गुरु तक ने यशोलिप्सा को काव्य-रचना के प्रयोजनों में संमान्य स्थान दिला दिया है। किन्तु यह यश कालिदास को जानकार लोगों के परितोष के रूप में चाहिए था जिससे उन्हें विश्वास हो सकता कि उनका प्रयोग-विज्ञान सही है। वे अपने प्रतिभा-स्वातंत्र्य को प्रचलित मात्र मान्यताओं से ऊपर रखते हैं, किन्तु इस बात की परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि उन्हें शब्दार्थ की प्रतिपत्ति, सम्यक् प्रत्यक्-ज्ञान हो। ध्यान से देखने पर यह लगेगा कि महाकवि की यशोलिप्सा वस्तुतः अपने रचना-विज्ञान की अभिज्ञों के द्वारा पुष्टि की आकांक्षा से अनतिरिक्त हैं। उन्हें अपने विज्ञान के समर्थन में जानकार का परितोष चाहिए।

मनोरंजन के द्वारा आश्रयदाताओं की या प्रचलित अपेक्षाओं के पोषण द्वारा पंडितों की अनुकूलता मात्र उन्हें अभीष्ट नहीं है। सहृदय आलोचक के द्वारा काव्य का खरा पाया जाना तो कवि की सहज इच्छा है। इस इच्छा को यदि यश की अभिलाषा कहा जाए तो उसका स्वरूपतः सन्दर्भ काव्यालोचन का अन्तरंग संबन्ध है, न कि बहिरंग व्यवहार का। किन्तु यह स्वरूपनियत संदर्भ या आदर्श स्थिति वहाँ तक यथार्थ होती है जहाँ तक कवियों और आलोचकों का अपना एक स्वायत्त संसार है।

स्पष्ट ही अर्थ-प्राप्ति से काव्य का कोई अन्तरंग संबन्ध नहीं है किन्तु सामाजिक संघर्ष के बीच जीवन-यात्रा के प्रसंग में यथेष्ट अर्थ-संबल जुटाना या सम्हाले रखना सामाजिक प्राणी के रूप में कविमात्र के लिए भी एक अनिवार्य महत्व रखता है। चूँकि कविकर्म स्वयं भोग्य-भौतिक द्रव्य के रूप में धनोत्पादन का साधन नहीं है, जीवन-निर्वाह का साधन बनने के लिए कवि को किसी मान्यताप्राप्त सामाजिक अपेक्षा की पूर्ति करना आवश्यक है। विभिन्न समाजों और युगों में कविकर्म की मान्यता विविध प्रकार की मिलती है। मम्मट के युग में कवियों को अपने आश्रयदाता नरेशों और उनकी सभा को प्रसन्न करना आवश्यक था, आजकल पण्यमूलक अर्थ-व्यवस्था में कवि को "गीतफरोश" बनना आवश्यक कहा गया है। कविता का वास्तविक प्रयोजन या साध्य अवश्य ही सामाजिक मानव का भी अपेक्षित साध्य होना चाहिए। अतः काव्य के स्वरूपगत मूल्य के आर्थिक मूल्य होने में कोई बाधा न होनी चाहिए। किन्तु यह एक आदर्श स्थिति है कि कवि कविता के स्वरूप को और उसका पाठक उससे अपनी वास्तविक अपेक्षा को पहचाने। प्रायः विदित अपेक्षाएं या मांग तात्विक अपेक्षाओं से मेल नहीं खातीं। इसीलिए कविता के लिए कविता करने में और अर्थार्जन के लिए कविता करने में भेद उत्पन्न हो जाता है ! यह विरोध तो तभी दूर हो सकता है जब कवि ज्ञानी हों और ज्ञानी समाज के व्यवस्थापक और शासक हों। किन्तु इस ज्ञान को मानव के अखंड स्वरूप का ज्ञान होना होगा।

आचार और व्यवहार की दो विधाओं में कर्म को विभाजित किया गया है। आचार धर्मशास्त्रीय विधि-निषेध का विषय है। व्यवहार मूलतः नीति का विषय है। व्यवहार सामान्यतया अर्थतंत्र और शासनतंत्र से संबद्ध सहेतुक कर्म है। काव्य न तो इन कर्म विधाओं के अन्तर्गत है, न उनके शास्त्रीय ज्ञान के। प्रश्न

यह है कि कल्पनात्मक साहित्य क्या लोक-व्यवहार का अर्थात् यथार्थ सामाजिक जीवन का, ज्ञान दे सकता है। प्रसिद्ध इतिहासकार फ्रूड का कहना था कि इतिहास का परिशीलन मनुष्य को शेक्सपीयर के अनुशीलन की तरह अनुभवी या ज्ञानवृद्ध बनाता है। इतिहास और साहित्य में नामों और तिथियों की कल्पनामात्र का अन्तर मानने पर, (जैसा मैकोले ने कहा था), यह उक्ति साहित्य पर चरितार्थ हो जाएगी। स्वयं शेक्सपीयर ने स्वभाव-निदर्शन को कला का परम प्रयोजन बताया है। दूसरी ओर आनन्दवर्धन की दो टूक उक्ति है कि "नहि कवेरितिवृत्तमात्रेण निर्वाहः"। और फिर स्वभावोक्ति के स्थान पर वक्रोक्ति या रसोक्ति को ही काव्य के रूप में श्रेष्ठ माना गया है। यह विसंवाद की स्थिति आलोचना के यथार्थवादी और अनेक अ-यथार्थवादी सिद्धान्तों में भी देखी जा सकती है। पर इसका समाधान कठिन नहीं प्रतीत होता है। यदि इतिहास को वस्तु-वर्णन के रूप में न देख कर स्वभाव के दृष्टान्त के रूप में देखा जाए तो इतिहास और साहित्य में मूल विषय-वस्तु का अन्तर नहीं रह जाएगा। वस्तुतंत्र ज्ञान की विधा के रूप में इतिहास और स्वतंत्र कल्पना के रूप में साहित्य का अन्तर अक्षत रहते हुए भी वह यहां अप्रासंगिक है। विशिष्ट देशकालगत वृत्तान्त के प्रमाणलब्ध ज्ञान में एक अनिवार्य आगन्तुकता और अधूरापन रहता है जो प्रायः एक सार्थक इकाई के रूप में उसके निरूपण को बाधित करता है। साहित्यिक रचना घटनाओं को समन्वित दृष्टान्त के रूप में कल्पित करते हुए स्वभाव को ही उनके अर्थ के रूप में निदर्शित करती है। स्वभाव को साहित्यकार किस स्तर और किस रूप में पहिचाने, यह किसी शास्त्रादेश का विषय नहीं है। पर यह असंदिग्ध है कि स्वभाव अपने आप में अविदित और अव्यक्त रहता है, उसका पता उसकी कार्यात्मक अभिव्यक्ति से ही चलता है। स्वभाव की कल्पना ही अस्थिर प्रतीति-प्रवाह के पीछे एक मूल कारण की कल्पना है। एक ओर यह कल्पना वाह्य प्रतिभासों के आधार पर वस्तु-कल्पना है, दूसरी ओर यह आन्तरिक प्रतिभासों के आधार पर आत्मकल्पना है जो कि चेतन मानवीय स्वभाव की कल्पना एवं मूल्य-कल्पना से अभिन्न है। भावना और विवेक से जुड़ी हुई आत्मानुभूति ही मूल्यानुभूति है और उसका निदर्शन ही साहित्योचित स्वभाव-निदर्शन है जो अनायास अनुभूत भाव और मूल्य, सामाजिक यथार्थ और नैतिक आदर्श का अवगाहन कर सकता है।

लोक-व्यवहार का ज्ञान असंबद्ध और आगन्तुक वस्तु-वृत्तान्तों के वर्णन से नहीं हो सकता। उस प्रकार का वर्णन एक अधूरी सूचना होगी। उसकी संपूर्णता का प्रयास इतिहास, समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि के रूप में विकसित हो सकता है। जिज्ञासा की इन सभी दिशाओं में मानवीय कार्यों और घटनाओं को समझने के लिए जो नियमों की खोज होती है उसका चरम लक्ष्य स्वभाव ही है। स्वभाव को कुछ वैज्ञानिक जैविक-भौतिक मानते हैं, कुछ इतिहासकार और समाजवैज्ञानिक सामाजिक-भौतिक। पर जैविक-भौतिक प्रकृति सिर्फ पशु प्रकृति है, वह मानव-व्यवहार को समझने के लिए अपर्याप्त है। मानव-व्यवहार में मूल्य-बोध या विवेक-चेतना की अनिवार्य-भूमिका है और वह स्वरूपतः नैसर्गिक या आगन्तुक प्रत्ययोत्पन्न प्रतिक्रियाओं (**इन्सटिंक्ट्स** और **कन्डिशन्ड रिफ्लैक्सेस**) की कारणता से भिन्न है। उन्हीं नैसर्गिक प्रेरणाओं के जवाब में मानवीय व्यवहार मे नाना प्रकार की व्यवस्थाएँ मिलती हैं। न इस सामाजिक व्यवस्था-भेद को सिर्फ आर्थिक-भौतिक कारणों से समझा जा सकता है क्योंकि उन्हीं प्राविधिक परिस्थितियों में अनेक प्रकार के समाज संभव हैं। यह सही है कि साधनों की अवस्था साध्यों की कल्पना को प्रभावित करती है किन्तु मूलतः साध्य-कल्पना मनुष्य के चेतन-स्वभाव पर निर्भर करती है। चेतनात्मक स्वभाव के अन्तर्गत विवेक ही मूल्य-बोध का हेतु है, मूल्य-बोध का सहज और अविवेचित रूप ही भाव है और उसी में कर्म की प्रेरणा है। इस प्रकार व्यवस्थित सामाजिक कर्म के रूप में अथवा सामाजिक सन्दर्भ में वैयक्तिक कर्मयुक्ति के रूप में व्यवहार अन्ततः चेतनात्मक मानवीय स्वभाव से ही नियत होता है। किन्तु उस स्वभाव को चाहे व्यक्तित्व में वह प्रकट हो, चाहे समाज-व्यवस्था में, व्यवहारातीत रूप से नहीं समझा जा सकता। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"। मानसिक-सामाजिक व्यवहार के रूपों में चेतना अनुप्रविष्ट है, वे रूप चेतना-संलग्न हैं। इसीलिए कल्पनात्मक काव्य की प्रत्यक्ता या अन्तर्मुखता उसे व्यवहार की अन्तर्युक्ति पर प्रकाश डालने की क्षमता प्रदान करती है। किसी विशिष्ट देश-काल से अविच्छिन्न तथ्य के रूप में प्रस्तुत व्यक्ति, समाज अथवा उनकी भूमिका में घटित इतिवृत्त का वर्णन या उनके अनुमानात्मक विश्लेषण से प्राप्त सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन काव्य का प्रयोजन नहीं हो सकता क्योंकि वह नाना शास्त्रों से गतार्थ है। कालिदास ने अपनी कृतियों को धर्मशास्त्र अथवा नीतिशास्त्र के विकल्प के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है, न बाण का प्रयोजन हर्षकालीन समाज का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करना था। यह

सत्य है कि उनकी कृतियों में तथ्यात्मक सामाजिक सूचना आनुषंगिक रूप से खोजी जा सकती है किन्तु वह सूचना उन कृतियों में मानवीय व्यवहार की कतिपय संभावनाओं के निदर्शन के लिए वास्तविक देश-काल से पृथक उद्गृहीत और कल्पना से संदर्भित एवं परावर्तित रूप में प्रयुक्त हुई है। कल्पना के इस व्यापार के कारण जो वाह्य तथ्यों के चेतनासंलग्न मूलभूत संभाव्य आकारों को एक सार्थक अन्विति में प्रस्तुत करती है, काव्य के अन्तर्गत संसार को स्वायत्त कहा गया है, इसलिए नहीं कि वह निरंकुश, निर्युक्तिक या निरर्थक है। उसकी "अवास्तविकता" उसकी असत्यता नहीं है। वह सामाजिक यथार्थ का प्रतिबिम्ब या अनुवाद न होते हुए भी, यह तर्क किया जा सकता है कि उसका स्वभाव-निदर्शन सामाजिक यथार्थ को वैसे ही प्रकाशित करता है जैसे निर्धारित संभावनाएं वास्तविकता को। काव्य न इतिहास है, न शास्त्र, क्योंकि उसकी भाषा न तथ्यसूचनात्मक है, न वह संप्रत्ययों के द्वारा विषयों की परिच्छेदक है। पर काव्य में मानव व्यवहार का स्वभाव ही मूल सत्य निदर्शित होता है। उसका ज्ञान व्यवहार की न वैसी अभिज्ञता देता है जैसा व्यवहार-विषयक शास्त्रों का अध्ययन, न वैसा जैसा व्यवहार से साक्षात् परिचय। व्यवहार में संलग्न साक्षात् अनुभविता से जो सहानुभूति रखता है उस दूसरे के अनुभव के सहृदय साक्षी के ज्ञान के समान व्यवहार का ज्ञान साहित्य से प्राप्त होता है, जैसे रोते बच्चे की समवेदनाशील माता को देखने वाले के मन में। साहित्य से लोकजीवन का ज्ञान उसके समानुभविक प्रतिबिम्ब के प्रत्युपस्थापन द्वारा होता है। यह ज्ञान विश्लेषणात्मक न होकर अनुभूतिसघन रूप से होता है। आचार के ज्ञान की भी प्रायः वही स्थिति है जो व्यवहार के ज्ञान की, किन्तु एक महत्वपूर्ण अन्तर है। आचार का एक निश्चित नैतिक आयाम होता है और इसलिए उसके निदर्शन में कवि को अपना दृष्टिकोण भी स्पष्ट करना आवश्यक होता है। यह कहा जा सकता है कि नैतिकता एक व्यापक तत्व है और वह आचार और व्यवहार दोनों में ही व्याप्त है। कौटुम्बिक और धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक, सभी क्षेत्रों में अपनी-अपनी नैतिकता की व्याप्ति देखी जा सकती है, यद्यपि नैतिकता के अन्दर सहेतुकता और अहेतुकता की अपेक्षा अथवा कर्तृत्व के अवच्छेदक धर्मों की अपेक्षा या कर्म की स्थितियों की सापेक्षता अथवा निरपेक्षता के कारण भेद देखा जा सकता है। व्यवहार में एवं विशिष्ट सामाजिक मर्यादाओं के संदर्भ में परिभाषित आचार के प्रभेदों में सापेक्षता प्रायः देखी जा सकती हैं। उनके विषय में साहित्यकार का दृष्टिकोण भी तटस्थ

और साम्युपगमतया सापेक्ष-प्रतिपादनात्मक (**हाइपोथैटिकल**), हो सकता है। किन्तु निरपेक्ष नैतिकता या "साधारण धर्म" के विषय में यह उचित नहीं हो सकता। साधारण धर्म सार्वभौम और निरपेक्ष नैतिकता है। उसका मर्म बहुधा व्याख्यात है। "अहिंसा परमो धर्मः", "परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्" आदि सूक्तियों में अथवा आत्मौपम्य, अनहंकार, दया, प्रेम, अभय, कर्तव्यपालन आदि सद्गुणों के विधान में इस प्रकार की नैतिकता देखी जा सकती है। निरपेक्षतया अभिमत नैतिकता का भी प्रयोग में निर्धारण असंदिग्ध नहीं होता। अतः उसके प्रसंग में भी अन्तर्द्वन्द्व निरवकाश नहीं होता। तो भी उस द्वन्द्व के निदर्शन में साहित्यकार को निर्धारणीय तत्व की निरपेक्षता के प्रति अपनी प्रतिबद्धता स्पष्ट प्रकट करनी चाहिए। इस प्रकार आधारित नैतिकता के क्षेत्र में साहित्यकार का एक निश्चित दायित्व होता ही है, जिससे उसका एक अप्रत्यक्ष उपदेशक बनना अनिवार्य है। "कान्तासंमिततयोपदेशयुजे" में यही अर्थ निगूढ़ है।

"शिवेतरक्षतयेय" में अनर्थ-निवारण अदृष्टपरक है। सभी प्राचीन कला-परंपराओं में यह विश्वास था कि विशेष प्रकार के रूप-विधान या प्रतीक-विधान का अदृष्ट जगत् में प्रतिस्पंदन होता है। समस्त विश्व में आन्तरिक आकार-संवाद है जिसके कारण वस्तु-निरपेक्षतया उनकी योजनाओं के प्रकार ही अदृष्टरूप से व्यंजक और प्रभावक बन जाते हैं। गान्धर्व संगीत में इसका विशेष महत्व था, प्रतिमा-विज्ञान, वास्तु, छन्दःशास्त्र आदि में इसका बोध स्पष्ट निरूपित है। काव्य भी अदृष्ट का साधक हो सकता है, यह विश्वास इसी परंपरा का अंग है। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से वह निराधार होते हुए भी, यह कहना कठिन है कि सभी आधुनिक रचनाकार अपनी कृतियों को समष्टि-संवाद से सर्वथा कोरा समझते हैं।

मूल्य-प्रत्यय

"सद्यः परनिर्वृति" को काव्य का अन्तरंग, चरम प्रयोजन माना गया है और उसकी व्याख्या सौन्दर्यजनित चमत्कार अथवा रसास्वादन के सिद्धान्तों के द्वारा की गयी है। पहले कहा जा चुका है कि काव्य और कला के मूल्य द्विदलीय हैं। एक ओर रूप का प्रतिभास है, दूसरी ओर सार्थकता की प्रतीति है। इस द्विदलीयता का यह अर्थ नहीं है कि काव्य दो पृथक् खंडों को जोड़ कर बना है जैसे घट दो कपालों के संयोग से बनता है। साहित्यिक अथवा कला-कृति में एक स्वगत और परस्पर-सापेक्ष भेद मिलता है जो उनकी संकेतात्मकता और मूल्यात्मकता के कारण

है। ये दोनों ही समवेत पक्ष विशिष्ट कमनीय विषयता के अन्तर्गत हैं। हेगेल ने यह स्पष्ट किया है कि जहां अस्तिमात्र के प्रत्यय इकहरे होते हैं, तत्व एवं ज्ञान के प्रत्यय स्वरूपतः दोहरे हैं। अस्तिता, नास्तिता, नील-पीतादि गुण, परिमाण आदि प्रत्ययों के विषय इन प्रत्ययों से निःशेषतया परिभाषित हो जाते हैं। किन्तु तत्वकोटिक और ज्ञानकोटिक प्रत्ययों के विषय प्रत्यय-युग्मों के द्वारा परिभाषित होते हैं। तत्व और प्रतिभास, विषय और विषयी इन प्रत्ययगत द्वन्द्वों के प्रतिमान हैं। तत्व और प्रतिभास का ही द्वैत गुणाश्रित द्रव्य और कारणाश्रित कार्य में देखा जा सकता है जैसे एक और ऊंचे स्तर पर विषय और विषयी का भेदाभेद ज्ञान में। इन स्थलों में प्रतीयमान धर्म अपने व्यापक बृहद्तर-धर्मों का आक्षेप करता है, जो कि प्रतीति के द्वारा व्यक्त और चरितार्थ होते हुए भी उसका पूरक तथा अतिक्रामी होता है। मूल्य इसी प्रकार के विषय हैं। मूल्य-प्रतीति में तत्व और प्रतिभास एवं विषय और विषयी दोनों का ही भेद और अभेद, तनाव और अतिक्रमण बना रहता है क्यों कि मूल्य एक ओर तात्विक या सारभूत विषय और दूसरी ओर विषयी को चरितार्थ करने वाले ज्ञान के रूप होते हैं। यह भेद और तनाव ही मूल्य को स्तरात्मक और उसके बोध को विमर्शात्मक बनाता है। मूल्यों में बाहरी और आन्तरिक, दिखावटी और असली का भेद अनिवार्य होने से उनमें स्तरीयता का विवेक आवश्यक रूप से विद्यमान रहता है। इस प्रकार मूल्य गहरे, ऊँचे, जटिल विषय सिद्ध होते हैं जो निरे प्रत्यक्ष की सादी सपाट प्रतीतियों में नहीं समाते। उनकी स्तरात्मकता उनमें एक नकारात्मकता का आयाम डालती है। मूल्य-ज्ञान सतही प्रतीतियों का निषेध करता है मानो वे झूठी नकल हो और उनके भीतर सारभूत एवं विषयी के अनुरूप स्वरूप को खोजता है। यदि मूल्य में निर्दोष गुणवत्ता उसे तात्विक विषय की कोटि में रखती है, तो उसकी स्पृहणीयता एवं अर्थनीयता की प्रतीति उसे आत्मसापेक्ष ज्ञान का अन्तरंग विषय जताती है। अपनी पहिचान और मूल्य की पहिचान एक साथ ही होती है और उसके अनेक स्तर होते हैं। जैसे व्यक्ति या समाज अपने मूल्यों से पहिचाना जाता है, ऐसे ही मूल्यों की पहिचान भी इस बात से होती है कि वे किस स्तर के जीवन से जुड़े हैं। मूल्यों में मानवीय आत्मचेतना के विकास की स्थितियां देखी जा सकती हैं।

संगीत का दृष्टान्त

साहित्यिक या कलात्मक कृति का मूल्य से दोहरा संबन्ध है। एक ओर वह स्वयं एक अद्वितीय प्रकार के मूल्य का मूर्त प्रतिनिधित्व करती है, दूसरी ओर वह

मानवीय मूल्यों को निदर्शित करती है। पहले प्रकार के मूल्य के दो भेदों की ऊपर चर्चा की गयी थी, एक तो रूपमिश्रित सौन्दर्य की प्रत्यक्ष प्रतीति, दूसरी उसकी व्यंजकता-प्रधान कलात्मकता की प्रतीति। पहले प्रकार के लिए संगीत के स्वरों की आपामर-ग्राह्य श्रुति-सुभगता अथवा उनमें गायक के कण्ठ की मधुरता, रंगों की सहज आकर्षकता या अलंकार और रीति या वक्तव्य की ओजस्विता उदाहरण के रूप में लिए जा सकते हैं। व्यंजकता जो कि सांकेतिकता का एक विशेष प्रकार है, न्यूनाधिक रूप में सभी कलाओं में मिलती है। अतर्क्य या अविकल्पित भावात्मक अर्थ की व्यंजकता सभी कलाओं में रहते हुए भी, निश्चित मानवीय संदर्भों से परिभाषित सविकल्पक भावों के रूप में अर्थ-व्यंजना साहित्य की विशेषता है। उन व्यंग्य अर्थों में मानवीय स्थितियों के मूल्यांकन के रूप में सविकल्पक भाव भी रखे जा सकते हैं। फलतः एक ओर साहित्य अपने प्रत्यक्ष-प्रस्तुत रूप, रचना और रचनाश्रित व्यापार से एक विलक्षण साहित्यिक मूल्य प्रदर्शित और व्यक्त करता है, दूसरी ओर वह मानवीय मूल्यों को प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त करता है। माध्यम के निजी और रचनामूलक सौष्ठव को सौन्दर्य या कलात्मकता कहना समुचित होगा। संगीत के माध्यम स्वर में तारत्व-मन्द्रत्व, अल्पत्व-महत्व (वोल्यूम), ध्वनि वैशिष्ट्य (टिम्बर) और मात्रा (काल) रूप विशेषताएं मिलती हैं, उसकी रचना में स्वरों का क्रम और यौगपद्य, ताल और लय के प्रकार मिलते हैं। इन सभी तत्वों में अतर्कित, अनालोच्य, श्रुतिसुभगता मिलती है। संगीत का सुनना न्यूनाधिक रूप में प्रायः सभी को भाता है, पर संगीत के गुणी उसमें स्वर, ताल, आदि की योजनाओं को आलोचनात्मक ढंग से पहिचानते हैं। इन योजनाओं की विषयता पृथक्-पृथक् स्वरों की तात्कालिक ऐन्द्रिय प्रदत्तता से स्पष्ट ही भिन्न है। विदित है कि बेतहोफेन (Beethoven) बहरा हो जाने के बाद भी संगीत-रचना में समर्थ था। संगीत का तात्विक योजनात्मक रूप इससे मूलतः कल्पनागोचर सिद्ध होता है। यह स्मरणीय है कि अरस्तू आदि अनेक प्राचीन आचार्य संगीत की धुनों का मूल बुद्धिगोचर अलौकिक प्रतिमानों में मानते थे। अस्तु संगीत का एक और पक्ष भी है और वह है उसकी स्वर, ताल, आदि की योजनाओं के द्वारा भाव-व्यंजकता। संगीतमात्र में ध्वनि-गत स्पंदन योजनासमर्थित होकर नाद को व्यक्त करता है। यह स्मरणीय है कि ध्वनि आहत पवन का गुण है, नाद आकाश का अनाहत गुण है। उनमें व्यंजक सूत्र स्पन्दनात्मक है। नाद को चेतना से अलग करना कठिन है, चेतना को भाव में समाहित कर सकने की

उसकी अद्भुत क्षमता है पर यह भाव न वाह्य परिस्थितियों और विषयों में, न मानसिक विकल्पों के साथ नियत रूप से जुड़ा है। नाद के स्पन्दन में प्राणच्छन्द, काल की गति, चेतना का आत्मविमर्श आदि के सूक्ष्म आकारों को अपरोक्षतया प्रस्तुत करने की योग्यता होती है। फलतः संगीत से उद्बुद्धभावों के विभाव चेतना के अपने स्वगत आकार ही बन जाते हैं। अपनी अमूर्तता और व्यापकता के कारण ये संगीत-व्यंग्य भाव अनेकधा व्याख्येय होते हैं। प्राणच्छन्दित, अनवधारित भावात्मक स्वानुभूति के नादात्मक प्रतिबिम्ब द्वारा संगीत में मूल्य व्यंग्य होता है। इस प्रकार यद्यपि संगीत का प्रथम प्रतिभास रंजक स्वरादि के संवेदन के रूप में होता है, इस प्रतिभास में संगीतकार की कल्पना साकार होती है। श्रोता की कल्पना से तादात्म्य प्राप्त कर वह उसकी चेतना का आत्मप्रतिबिम्ब बनकर उसमें भावसघनता व्यक्त करती है। श्रोत्रग्राह्य रंजक प्रतिभास, उसमें मूर्त पर मानसिक स्तर पर प्रतिभानात्मक कल्पना, और भावसघन चेतना की अनुभूति, इन तीन स्तरों में पहले में प्रत्यक्ष सुन्दरता और व्यंजकता, दूसरे में कल्पना-सौन्दर्य और व्यंजकता, तीसरे में चरम व्यंग्यता देखी जा सकती है। स्वर की निजी रंजकता में संगीत का सर्वविदित, प्रतिभासगत विलक्षण मूल्य है, पर बिना समुचित योजना और व्यंजना के वह चेतना की स्वानुभूति नहीं बन सकता।

चित्रकला

चित्रकला में भी समानान्तर स्थिति देखी जा सकती है। चित्रकला के प्रसिद्ध षडंग है-- "रूपभेदः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्। सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्रं षडंगकम्"। रंगों का नयनसुभग प्रतिभास चित्र का सर्वदृश्य रूप है। उसमें व्यंग्य आकार उसका बुद्धि-निर्वर्ण्य रूप है जिसमें सादृश्य, रूप भेद और प्रमाण प्रासंगिक हैं। बाहर चित्र देख कर तद्विषयक वितर्कबुद्धि का उदय स्वाभाविक है-- इसके असाधारण लक्षणों का प्रयोजन क्या है?पर उसका चरम व्यंग्य अर्थ भाव ही होता है। लावण्य की तुलना मोती के अन्दर के आब से की गयी है। उसे पृथक लक्षणों या अवयवों में अन्तर्निहित व्यंग्य भाव या चेतना से अलग नहीं समझा जा सकता। यद्यपि अस्फुटभावों को असाधारण रूपों से व्यक्त करने वाले चित्र भी अब प्रचलित हैं, प्रायः पारम्परिक चित्रों में सविकल्पक भावों को उनसे जुड़े विषयों के द्वारा व्यक्त किया जाता है। विभाव और अनुभाव के प्रदर्शन से चित्रकला में भाव ही प्रधान व्यंग्य और मूल्य बन जाता है। रंग और रेखाएं दृश्य प्रतिभास के स्तर पर प्राथमिक व्यजक और सादृश्य आदि उनसे व्यंग्य होकर स्वयं कल्पना या

मानसिक आलोचन के स्तर पर भाव के व्यंजक बनते हैं। इस प्रकार कला की रचना और अनुभूति में व्यंग्य-व्यंजक-भाव से परस्पर जुड़े तीन स्तरों का विश्लेषण किया जा सकता है। कलाकार की भावात्मक और प्रतिभानात्मक कल्पना या मानसिक रचना बाह्य कलाकृति से मूर्त रूप पाती है। दृश्य प्रतिभास के रूप में कलाकृति अपने में साकार हुई कल्पना को सहृदय की चेतना में प्रतिभानात्मक रूप से व्यक्त करती हुई उससे संसृष्ट भावात्मक अभिप्राय भी व्यक्त करती है। प्रतिभास में मूर्त या प्रत्यक्षवत् व्यंग्य काल्पनिक प्रतिभान और उसमें अन्तःसारवद् व्यंग्य भाव, इस प्रक्रिया से कलाकृति दृश्य को छूती है। अवधेय है कि यद्यपि दृश्य-प्रतिभासात्मक कलाकृति में काल्पनिक आधार का संकेत आवश्यक है, यह आवश्यक नहीं है कि वह आकार मूर्त, या प्रतिरूपित ही हो, वह·प्रतीकात्मकतया या अन्य प्रकार से व्यंजक हो सकता है। कलाकृति में रूप और व्यंजक संकेत दोनों ही आवश्यक हैं।

साहित्यिक कृति का प्रतिभास भाषात्मक होता है जो अपने रूप और रूढ सांकेतिकता के माध्यम से वाच्यार्थ प्रस्तुत करता हुआ, शब्द-प्रयोग अथवा वाच्यार्थ की विशेषता से काल्पनिक प्रतिभानगत अर्थ व्यक्त करता है जिनमें भाव का स्थान मुख्य है। मेघदूत और गीतगोविन्द, कादम्बरी और पैराडाइज लास्ट की प्रथम प्रतीति उनके विशिष्ट भाषा-प्रवाह की होती है। ध्वनि, छन्द, लय, रीति, अलंकार, और प्रबन्ध-रूप साहित्यिक कृति की भाषात्मक रचना के सुविदित तत्व हैं। भाषा में शब्द और अर्थ-स्पन्दन परस्पर वैसे ही जुड़े रहते हैं जैसे स्वर और नाद, रंग और आकार। अतएव भाषात्मक छवि की रचना के तत्व वाचक और वाच्य दोनों पर ही संयुक्त रूप से निर्भर करते हैं। शब्द और अर्थ, वाचक और वाच्य की युगनद्ध तनु ही काव्य का प्रतिभासात्मक रूप है। उसकी भावना या कल्पनात्मक प्रतिभान में भावात्मक अभिप्राय व्यक्त होता है। भाषा का संकेतविद्ध रूप, अर्थ-कल्पना और भाव-प्रतीति, इन स्तरों में साहित्यिक अनुभूति विभक्त की जा सकती है। अवधेय है कि कृति में बाह्य विषयक प्रतिभास, काल्पनिक प्रतिभान और भावानुभूति यह विवेच्यतया पृथक होते हुए भी वस्तुतः एकान्वयी हैं। एक ही कलानुभूति की विषय-वस्तु के बोध के वे विभिन्न स्तर हैं। कलाकृति के प्रत्यक्ष में उपादान के विशेष गुण के साथ उसके रचनात्मक रूप का प्रत्यक्ष होता है। उस प्रत्यक्ष को प्रतिभास कहना उचित है क्योंकि इसमें उसके विषय को वास्तविक देश-काल में नहीं रखा जाता, न उसकी वास्तविकता का निर्णय किया जाता है।

इसीलिए उसका विषय दृश्य है, विकल्प एवं व्यवहार्य नहीं। चित्रपट का अन्तर्वर्ती देश-काल और जिस दीवार और समय में वह चित्रपट वहां स्थापित किया गया है, उनमें एक सत्ताकोटिक विच्छेद है। रंगमंच पर यह स्थिति और साफ हो जाती है। कथा, काव्य, और गीत तात्कालिक वास्तविक घटना के रूप में न लिए जा कर अकालिक या स्वकालिक प्रतीति के रूप में ही लिए जाते हैं।

कलाकृति का प्रतिभासमान आकार और संकेत अपनी मूलभूत कल्पना में निहित अर्थ को ही द्रष्टा तक पहुँचाते हैं जो उसके द्वारा अपनाये जाने पर काल्पनिक प्रतिभान का विषय बनता है। ऐन्द्रिय प्रतिभास और काल्पनिक प्रतिभान में विषयवस्तु-गत आकार में भेद नहीं होता किन्तु प्रतिभान में संकेतों की प्रतीति भावपरक अर्थ-प्रतीति से पारदर्शितया अभिन्न हो जाती है। भावात्मक अर्थ की प्रतीति सिर्फ लौकिक भावों के प्रतिबिम्ब के रूप में नहीं होती बल्कि इन प्रतिबिम्वित भावों के साक्षी की उनके माध्यम से अपनी प्रतीति के रूप में होती है। यही "सद्यःपरनिर्वृति" है। "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति"।

भाषा

भाषा और संकेत, कल्पना और प्रतिभान, भाव और साक्षात्कार, इस क्रम से साहित्यिक अनुभूति का विश्लेषण किया जा सकता है। एक प्रकार की आलोचना में भाव अर्थ में और कल्पना शब्द-रचना में अन्तर्भुक्त होकर सिर्फ शब्द और अर्थ, दो ही तत्वों को साहित्य के मूल उपादान सिद्ध करते हैं।

अथवा शब्द-शक्ति की कल्पना से अर्थ भी शब्द में अन्तर्भुक्त हो जाता है और साहित्य शब्द-प्रयोग मात्र सिद्ध होता है और साहित्यकार शब्द-शिल्पी। इसमें कठिनाई यही है कि शब्द-प्रयोग अर्थ पर निर्भर करता है, अर्थ कल्पना पर और कल्पना भावना पर। "पात्रे घृतं घृतं पात्रे वा", यह संशय होने पर उलट कर देखने से तथ्य स्पष्ट हो जाता है। यह इतिहास-प्रसिद्ध है कि शब्दशिल्प पर अतिशय आग्रह साहित्य को निस्सार बना देता है। यह आपत्ति की जा सकती है कि इस प्रकार कल्पना पर आग्रह काव्य को असत्य और भाव पर आग्रह उसे भावुक बना देगा। यह आपत्ति तब ठीक होती जब साहित्य को कल्पनामात्र या भावमात्र कहा जाता। दूसरी बात यह भी है कि शब्द शिल्प के प्रति कोई आपत्ति नहीं है। उस अकेले पर साहित्य का सारा भार डालना अवश्य आपत्तिजनक है।

भाषा की संकेतात्मकता और सहजता दोनों ही सुविदित हैं। भाषा सहज पर जटिल संरचना से व्यवस्थित रूढ़िमूलक संकेतों से बनी होती है। सामान्य व्यवहार में वस्तुओं के निर्देश और वर्णन के लिए भाषा के प्रयोग से उसके विषय में यह वस्तुचित्रवादी भ्रान्ति होना स्वाभाविक है कि शब्द वस्तुओं का निर्देश करते हैं और वाक्य संबन्द्ध-वस्तु-स्थितियों का चित्रण। अर्थ को वस्तु मानने में जो कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं, उनका यहां उल्लेख अनावश्यक है। अर्थ को शब्द-विकल्पित प्रतिभास या विकल्पमात्र मानना ही युक्ति-संगत प्रतीत होता है। अर्थ, प्रत्यय और शब्द को अलग-अलग मान कर यह कल्पना करना कि प्रत्यय अर्थ का प्रतिबिम्ब है और शब्द उसका संकेत, एक स्थूल यथार्थवादी ज्ञानमीमांसा से उत्पन्न भ्रान्ति है। शब्द, अर्थ और प्रत्यय, एक ही मूल व्यापार के पक्ष हैं जिसे चेतना का सहज विमर्शात्मक व्यापार कहा जा सकता है। चेतना यथास्थित वस्तुजगत् को प्रतिबिम्बित नहीं करती, वह अपनी स्वतंत्र शक्ति से प्रतिभास-लब्ध सामग्री को अर्थ-रूप में रचती है। चेतना की यह अर्थ-निर्माण शक्ति ही वाक्-शक्ति है। मानवीय चेतना में अवश्य ही यह शक्ति सीमित है। उसके विकल्प अनियत, असंगत, अवस्तुक अथवा असंभवपरक होकर भ्रान्त हो सकते हैं, प्रतिनियत दृश्य-समारोप्य या दृश्यमात्र-समारोप्य होकर व्यावहारिक भी हो सकते हैं, दृश्योत्तीर्ण संभावनाविषयक या पारमार्थिक भी हो सकते हैं।

वाक् में एक तनाव या द्वन्द्व सदा रहता है, ईश्वरीय वाक् में आवरण और विक्षेप का, मानवीय वाक् में स्वच्छन्द सृजन और नियत अनुकरण का। जहां स्वतंत्र बाह्य जगत् पूर्वस्वीकृत है, वहां ज्ञान की वस्तुपरकता उसकी कसौटी और ज्ञान का अनुवाद भाषा का प्रतिमान बन जाता है। इस स्थिति में ज्ञानपूर्वक निर्माण प्रकृतिदत्त प्रतिमान का ही हो सकता है और शिल्प या विज्ञान में ही कला सीमित हो जाती है। प्रकृति को आत्मप्रकृति मानने पर प्रतिमान-विज्ञान और स्वातंत्र्य का विरोध हट जाता है, वाक् और अर्थ का सामरस्य आत्मान्तःस्थ विज्ञान से हो जाता है।

कल्पना

भाषा की रचना शक्ति, और कल्पना को अलग नहीं किया जा सकता, दोनों चेतना के अयुतसिद्ध व्यापार हैं। भाषा के समान ही कल्पना में स्वच्छन्दता और अनुकरणात्मकता का तनाव मिलता है। एक ओर कल्पना विश्रृंखल स्मृति बन

जाती है, दूसरी ओर ऋतंभरा प्रज्ञा या प्रतिभा। यदि ज्ञान वस्तुतंत्र है और कल्पना स्वयं ज्ञान-शक्ति नहीं है, तो वह ज्ञान का अनुसरण ही कर सकती है। सम्प्रत्ययात्मक ज्ञान के लिए प्रतिभास-सामग्री को काटने छांटने के रूप में तैयारी का काम उसे दिया गया है अथवा ज्ञान से अलग थलग क्षेत्र में उसे स्वच्छन्द विहार की अनुमति दी गयी है, इन दोनों ही स्थितियों में कल्पना अधिक से अधिक ज्ञान का अनुवाद कर सकती है। पर ज्ञान की भाषात्मक अभिव्यक्ति यह सिद्ध करती है कि उसके अन्दर कल्पना के अंश का निवेश है। पर इस प्रकार की सहज कल्पना को ज्ञान से अलग नहीं किया जा सकता, उसे मानव चेतना की स्वतंत्र रचना-शक्ति नहीं कह सकते, उसे चेतना की संरचनामूलक अनिवार्य प्रवृत्ति ही कहना ठीक होगा। किन्तु "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभव्यम्", "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "तत्वमसि", "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय", "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे" इत्यादि प्रत्यक्ष और अनुमान के अगोचर विवरणों में आगमिक शब्द ही प्रमाणभूत है। इन शब्द-वेध्य अर्थों की मानसिक प्रतीति को कल्पना के अतिरिक्त क्या नाम दिया जा सकता है। यह प्रतीति साक्षात्कारात्मक भी हो सकती है, यह अनेक आचार्यों का प्रसिद्ध सिद्धान्त है। इस साक्षात्कारात्मक प्रतीति को प्रतिभा, प्रतिभान या कल्पनात्मक प्रतिभान कहा जा सकता है। पर इसके विषय सिर्फ आगमिक ही नहीं हैं। चेतन आत्मसत्ता की असंख्य प्रतीतियाँ अपरोक्ष मानसिक स्तर पर भासित होती हैं और उन्हें व्यक्त या संप्रेषित करने में शब्द-प्रयोग असाधारण बन जाता है। इन अनुभूतियों को काल्पनिक कहने में उनकी असत्यता नहीं समझी जानी चाहिए। आजकल कुछ विचारक धार्मिक और आध्यात्मिक प्रतीतियों को काल्पनिक और मिथ्या कहते हैं। उनसे आगे बढ़कर अन्य विचारक नैतिक सत्यों की प्रतीति को भी भाषा का खेल बताते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिक चेतना को भी एक शब्द जन्य भ्रान्ति कहते हैं। इस प्रकार वैज्ञानिक या तार्किक प्रत्यक्षवादी दृष्टि से अधिकांश मूल्य-बोध स्थूल ऐन्द्रिय प्रतीतियों में विश्लेष्य हैं। किन्तु इस दृष्टि से भी भले ही ज्ञान की कोई शक्ति अतीन्द्रिय विषयक नहीं हो सकती, तथापि कोई ज्ञान या भ्रान्ति विना रचना या कल्पना के संभव नहीं है। ज्ञान को वस्तुतंत्र और कल्पना को कर्तृतंत्र मान कर जो उनका प्रसिद्ध भेद है, उसमें यह भुला दिया जाता है कि कल्पना सदा सबोध संकल्प का व्यापार नहीं है। उदाहरण के लिए भाषागत तार्किक कोटियों में प्रतीति के विषयों का विभाजन प्रायः सहज रूप से ही सम्पन्न होता है। भ्रान्ति, स्वप्न, ध्यान आदि में

भी सहज रूप से ही विषयों की अपरोक्ष प्रतीति होती है। इस प्रकार अबोधपूर्वक कल्पना के विषय सत्य भी होते हैं, मिथ्या भी। यही स्थिति वैज्ञानिक और साहित्यकार की सबोध कल्पना की है। कल्पना में सदा ही मानसिक प्रतीति और विषय-रचना के तत्व मिलते हैं। मानसिक साक्षात्कार या प्रतिभान में उसका उत्कर्ष मिलता है, नाम-रूप द्वारा वह अपने को व्यक्त करती हैं। किसी बाह्य निमित्त या आकार को आन्तरिक प्रतीति से जोड़कर उसे अर्थ-संकेत या अर्थ-प्रतिभास के रूप में प्रस्तुत कर सकना उसकी अद्‌भुत और मौलिक शक्ति है। कल्पना जिस सत्य से प्रेरित होती है वह है चेतना की अपने आपकी प्रतीति। प्रतिभान, भावना, ज्ञानगत या भावगत संरचना कल्पना के ही भेद हैं। प्रतिभान-कवि और कवि-प्रतिभा प्रसिद्ध हैं। ज्ञान-संरचना को बौद्ध दार्शनिक कल्पना का नाम देते हैं। व्याकरणात्मक संरचना को वैयाकरण वाक् की नित्य शक्ति का प्रकाश मानते हैं। प्रतिमाकार के लिए उपदेश है कि वह ध्यान में समाहित होकर प्रतिमा गढ़ डाले। कवि के लिए नैसर्गिक शक्ति के रूप में प्रतिभा आवश्यक मानी गयी है। यह कहा गया है कि प्रतिभा विषय को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष कर देती है और उचित शब्द को उपस्थित कर देती है। इसमें संदेह नहीं हो सकता कि काव्य या कला का उद्‌गम एक ऐसी आन्तरिक प्रतीति में है जिसमें अपने को व्यक्त करने की प्रबल प्रेरणा होती है। इस प्रतीति में एक सघन संवेदनात्मक या भावात्मक अंश होता है जो अपने अनुकूल आलम्बन के प्रतिभान से संलग्न होता है। उसी आलम्बन को बाह्य रूप या संकेत के माध्यम से व्यक्त करना रचनात्मक कल्पना का कार्य है।

कल्पना सामान्य अनुभव के विषयों को असामान्य रूप से प्रस्तुत करती है-- अस्फुट को स्फुट, उपेक्षित को विशेषित। अननुभूत, अविचारित संभावनाओं को वह प्रकट करती है। कल्पना जगत् को देखने का एक नया भावात्मक और ज्ञानात्मक परिप्रेक्ष्य लाती है। उस के आलोक में एक नया लोक व्यक्त होता है।

कल्पना का लोक जीवनव्यापी है। लौकिक व्यवहार, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य और कला, ध्यान और भावना, कल्पना के बिना कुछ भी साध्य नहीं है। वह रचनात्मक भी है, ज्ञानात्मक भी। पर उसकी रचना वस्तु-रचना न होकर आकार या रूप की रचना होती है। कल्पनात्मक ज्ञान संभाव्य-वस्तु-विषयक भी होता है, संभाव्यता के प्रकार का भी होता है। उदाहरण के लिए डाल्टन का परमाणु-विषयक ज्ञान संभाव्य-वस्तु-विषयक ज्ञान था, देश-काल-कारणता का ज्ञान संभाव्यता-प्रकार-विषयक ज्ञान है। संक्षेप में कल्पना आकार-विषयक संभावनात्मक

ज्ञान प्रस्तुत करती है। वस्तु-ज्ञान में आकार-परिच्छेदकतया, कर्म अथवा निर्माण में साध्य आकार की प्रस्तुति द्वारा, आचार में आदर्श की प्रस्तुति के द्वारा कल्पना अपेक्षित होती है पर वह स्वयं न वस्तु-ज्ञान है, न कर्म। संभाव्य आकार को विषय बनाने में कल्पना सर्वथा अवस्तु-विषयक हो सकती है, वस्तु के आकार को आकारान्तर से आच्छादित कर सकती है, असामान्य, अपूर्व सूक्ष्म विषय को प्रकाशित कर सकती है। वह प्रमाण-विसंवादी भी हो सकती है, अविसंवादी भी। अविद्या और प्रज्ञा दोनों से ही वह संबद्ध है और दोनों ही दिशाओं में कार्य करती है। प्रज्ञानुगुण होने पर वह सामान्य अनुभव को उदात्त आदर्शों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करती है। कल्पना अपने आप में रचना-शक्ति है किन्तु उसके रचित अर्थों की मूल्यात्मकता उसके व्यंग्य भाव पर निर्भर करती है। विश्वसर्जनात्मक ईश्वरीय कल्पना, ज्ञानसंरचनात्मक प्रागनुभविक कल्पना, प्रतिचित्रणात्मक कल्पना और भाव-व्यंजक कल्पना, इन प्रभेदों में अन्तिम दो साहित्य और कला में उपयोगी हैं। प्रतिचित्रण अन्तःस्फुरित तत्व का दृश्य रूप या बिम्ब के द्वारा अथवा दृश्य रूपों में साक्षात्कृत तत्व का मनोग्राह्य विकल्पों के द्वारा, उभयथा संभव है। दोनों ही प्रकार से प्रतिचित्रण आकार-विधान है, एक, अमूर्त भाव का मूर्त रूप में, दूसरे, मूर्त रूप का अमूर्त भाव के रूप में। दोनों ही प्रकारों में भाव और रूप का व्यंग्य-व्यंजक संबन्ध अपेक्षित है। प्रतिचित्रण यदि रूप की भावात्मक अन्विति को केन्द्र में रख कर विषय-प्रस्तुति नहीं करता तो वह कोरा अनुवाद या कोरा संकेत बन जाएगा। इस प्रकार साहित्य एवं कला में उपयोगी रचनात्मक कल्पना की विधा मूलतः भाव-व्यंजक रूप और संकेत की रचना ही है।

विधा और "भावार्थ" की ऐतिहासिकता

रूप, संकेत और व्यंजना पर विचार की एक समृद्ध परम्परा है, प्राचीन और अर्वाचीन। उनके सामान्य स्वरूप सुविचारित होने पर भी उनके प्रयोग के अनन्त वैचित्र्य का कभी भी संपूर्णतया विश्लेषण नहीं हो सकता। इन प्रयोगों का और उनसे जनित विधा या शिल्प परिवर्तन का एक निरन्तर इतिहास है। यदि महान् साहित्यकार या कलाकार नयी विधाओं का प्रयोग करते हैं तो पुरानी विधाएं अप्रचलित होने लगती हैं। उदाहरण के लिए लघुकथा और उपन्यास आधुनिक आविष्कार हैं, छन्दोरचना भी अपने परम्परागत नियत रूपों से विखंडित होकर नये रूप खोजती है। महाकाव्य-रचना या अलंकृत गद्य, या विदग्ध आलंकारिक पद्य भी, अस्तप्राय हैं। साहित्यिक कृति का रूप-पक्ष प्रबन्ध-विशेष में भाषा के विशिष्ट

प्रयोग से रचित होता है। उसका विशिष्ट कलात्मक मूल्य उसकी व्यंजकता पर निर्भर करता है। व्यंजकता की सामान्य प्रक्रिया जिन असंख्य प्रकारों से संपन्न होती है, उनसे कृति की कलात्मकता भी वैशिष्ट्य प्राप्त करती है। किन्तु शब्द और अर्थ, व्यंजक और व्यंग्य अलग नहीं किये जा सकते। अलग-अलग लिये जाने पर उनके मूल्य क्षीण और अप्रासंगिक हो जाते हैं। "भम धम्मिय वीसद्धों" आदि ध्वनि का प्रसिद्ध उदाहरण है पर उसका महत्व प्रक्रिया-निदर्शन में है, न कि उत्तम काव्य के निदर्शन में। उत्तम काव्य की परिभाषा उसकी ध्वनिप्रधानता की गयी है पर यह माना गया है कि वस्तु और अलंकार की ध्वनि से भाव-रसादि की असंलक्ष्य-क्रम ध्वनि श्रेष्ठ है। किन्तु भाव की ध्वनि कहना पर्याप्त कथन नहीं है क्योंकि भाव कोई सीधा सपाट एक-रस विषय नहीं है, न वह सम्पूर्णतया प्रकृति-सिद्ध अनादि वासना है, न उसके प्रकार सार्वभौम हैं। भाव का मनोवैज्ञानिक पक्ष एक संभावना है जो सामाजिक संस्थाओं और सांस्कृतिक आदर्शों से निश्चित रूप प्राप्त करता है। इसलिए भाव की व्यंजना तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक वह उसके सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ का यथावत् उपयोग नहीं करती।

रति, क्रोध, हास आदि मनोविकार मनुष्यमात्र के सहज आवेग प्रसिद्ध हैं और उनमें से कुछ पशु-साधारण भी हैं। किन्तु मनुष्यों में इनके विषय, उद्बोधक स्थितियाँ, मानसिक प्रतीतियां और दैहिक अभिव्यक्तियां सामाजिक शिक्षा और अनुशासन पर निर्भर करती हैं। एक प्रसिद्ध मत है कि रति की सहजवृत्ति का दमन रचनात्मक सांस्कृतिक ऊर्जा का प्रेरक भी है, मानसिक रोगों का भी। रति की प्रवृत्ति के सामाजिक नियमन के प्रभेद असंख्य हैं जिनमें विवाह और स्वच्छन्दाचार के नाना प्रकार गिनाए जा सकते हैं। समाज-भेद से औचित्य की परिभाषा बदल जाती है। मृत्यु पर कहीं जोर-जोर से विलाप उचित माना जाता है, कहीं मौन। कहीं बहुपत्नी विवाह अनुमत है कहीं नहीं। धर्म के लिए उत्साह कहीं मर्यादापालन का उत्साह माना जाता है, कहीं साधारण धर्म के अनुरोध से मर्यादाओं के विरुद्ध विद्रोह। कभी निर्वेद को स्थायी माना जाता है, कभी नहीं। कभी ईश्वर को रति का सम्यक् विषय माना है, कभी नहीं।

स्पष्ट ही सामाजिक जीवन में मानवीय भाव सहज, आदिम आवेग नहीं है बल्कि सामाजिक मूल्यानुशासन से परिभाषित सांस्कृतिक अर्थ हैं। भावव्यंजना अनिवार्यतया सामाजिक मूल्यों की व्यंजना है जिसके साथ रचनाकार की अपनी

दृष्टि और मूल्यबोध अनिवार्यतया बँधे रहते हैं। उसकी रचना एक साथ ही तीन प्रकार के सूत्रों को व्यक्त करती है-- समाज के प्रचलित अथवा विद्रोही मूल्य, उसके अपने मूल्य, और विशिष्ट साहित्यिक मूल्य। कहा गया है कि रचना की साहित्यिकता उसके विशिष्ट साहित्यिक मूल्य पर निर्भर करती है जबकि उसकी महत्ता अन्य मूल्यों पर। यद्यपि इन दो प्रकार के मूल्यों में भेद युक्तियुक्त है, वे दोनों प्रकार इस भांति एक-प्रतीति-प्रत्येय हैं जैसे स्फटिक के पात्र की पारदर्शी कान्ति और उसमें अन्तर्निहित जवा-पुष्प की लालिमा। रचनात्मक मूल्य के भी अनेक आयाम होते हैं-- व्यंजक विषय की स्वगत विशेषता जैसे कण्ठ-स्वर, ध्वनि की पहिचान (**टिम्बर**) या औपादानिक द्रव्य के रेशों या धारियों की बनावट, शब्दों की सुश्रव्यता आदि, प्रबन्ध रचना की विधागत विशेषता, वाच्य-वाचक-योजना, ध्वनि-व्यापार। साहित्यिक कृति के रचनाश्रित मूल्य अन्ततः शब्द और उसके प्रयोग पर साक्षात् रूप से निर्भर करते हैं। दूसरी ओर व्यंग्य अर्थ शब्द-ज्ञाप्य और शब्द-विद्ध होते हुए भी कल्पना, चिन्तन और भावना के विषय होने से अपनी पृथक् पदार्थता रखते हैं। ऐसा न होता तो साहित्यिक कृति के अभिप्राय की किसी प्रकार की भी आलोचना संभव न होती। प्रत्ययात्मक और भावात्मक आलोच्य अर्थ व्यंजना-व्यापार की महिमा से काव्य के आत्मसात् हो जाते हैं। "काव्यस्यात्मा ध्वनिः"।

यद्यपि महाकाव्य, प्रगीत काव्य, लघु-कथा और उपन्यास जैसी विधाएं भी संस्कृति-सापेक्ष हैं, उनमें व्यंग्य भावनाएं और विचार-धाराएं भी सांस्कृतिक संदर्भ के बिना अबोध्य और अनास्वाद्य हैं। व्यंग्यार्थ की यह आन्तरिक संस्कृति-सापेक्षता ही साहित्य की वास्तविक सांस्कृतिक भूमिका है। रूपगत मूल्य के साथ एकात्मतया भासित व्यंग्य-अर्थात्मक मूल्य सांस्कृतिक परम्परा से उपलब्ध होता है। रामचरित मानस का रूपगत मूल्य उसकी अवधी के तत्सम-परिष्कृत, प्रसन्न प्रवाह, चौपाई की नित्योद्यत कसावट, प्रबन्ध-रचना में आख्यान की प्रस्तुति, व्याख्यान और स्तुतियों का समन्वित प्रयोग आदि में देखा जा सकता है। इस पक्ष में परम्परा से उपलब्ध सामग्री के अपूर्व प्रयोग द्वारा ही उनकी रचना अपनी विशिष्टता अर्जित करती है। व्यंग्यार्थ उनका नीति, धर्म और भक्ति है। आख्यान के माध्यम से पहले और दूसरे पुरुषार्थों से संबद्ध साध्य-साधनात्मक मूल्यों को मूर्त करते हुए उनमें व्याप्त और उनसे परे भक्ति को व्यक्त किया गया है। भक्ति का दर्शन, भावनात्मक मूल्य और उसके प्रतीक सांस्कृतिक परम्परा की विरासत है। उसकी

सफल व्यंजना के द्वारा उसकी एक ऐसी स्थायी शब्द-मूर्ति गढ़ना जो कि उससे भावित मानव जीवन का भी मूर्त प्रतीक है, यह कवि की निजी उपलब्धि है। रचना प्रयोगों की और रूप की उद्भावनाओं की अवश्य ही एक ऐतिहासिक परम्परा है-- एज़रा पाउन्ड एक बार प्रयोगों के इतिहास को प्रदर्शित करते हुए काव्यसंकलन भी करना चाहते थे-- किन्तु व्यंग्यार्थ कहीं गंभीरतर रूप में सांस्कृतिक इतिहास पर निर्भर करता है। रूप-रचना सामग्री की संभावनाओं का सार्थक आविष्कार होने के नाते कल्पना की स्वच्छन्दता के अतिरिक्त एक सीमा तक शिल्प या विज्ञान पर निर्भर करती है।

कलात्मकता या सौन्दर्य के अतिरिक्त अन्य मूल्य जीवन-मूल्य हैं, जीवन की सघन अनुभूति में या ठोस यथार्थ की अन्विति में प्रतिबिम्बित आदर्श। विभिन्न प्रकार के यथार्थगत लक्ष्यों की साधन-प्रणालियां अंशतः विभिन्न औपादानिक संभावनाओं के क्षेत्र में आविष्कृत होती हैं और पृथक्-पृथक् विज्ञान से संबद्ध हो जाती हैं, जैसे आर्थिक जीवन उत्पादन-प्रविधि से। किन्तु मूल्य-साधना, विशेषतया आदर्श मूल्यों की साधना, सिर्फ बाहरी कार्योत्पादन न होकर अपने को बनाना या पहिचानना होता है। मानवीय आत्मा या स्वभाव चेतना से अनतिरिक्त होने के कारण किसी विज्ञान का विषय नहीं बनती। उसकी पहिचान या आदर्श-रूप-संपादन अन्ततः स्वरूप-ज्ञान और भावना के द्वारा ही संभव है, यद्यपि इसके लिए कर्म-जीवन की सुदीर्घ भूमिका अपेक्षित हो सकती है और होती है। जीवन-विधा, आदर्श-साधना, चरितार्थता की या मूल्यों की उपलब्धि-- ये अपने समूचेपन में, अपनी संश्लिष्ट इकाई में ऐतिहासिक काल से वेष्टित एक अन्तर-वैयक्तिक चेतना के सूत्र हैं। अपने काल से बाहर रख दिये जाने पर ये सूत्र सघन, वास्तविक चेतना से हटकर अमूर्त कल्पनाएं बन जाती हैं। वे जीवन निष्ठा और अनुभूति का विषय नहीं रहतीं। कालात्यस्त और अयथार्थ होने पर भी उनकी प्रतीति कल्पना-संभाव्य रहती है। यह सही है कि मूल्य देश-काल-प्रतिनियत वस्तु नहीं है किन्तु वे अपने पारमार्थिक और अनिर्वाच्य स्वरूप को छोड़कर अनिवार्यतया औपाधिक आत्मप्रतीति की विषय-वस्तु होते हैं, और उनकी वास्तविक प्रतीति अन्तर-वैयक्तिक, ऐतिहासिक चेतना का अंग होती है। इसी रूप में वे संप्रेष्य अर्थ होते हैं।

अनुभूति और कल्पना में विषयगत आकार-साम्य होने पर भी स्फुटता का भेद सर्वविदित है। यह भेद उनसे उत्पन्न संस्कारों को भी प्रभावित करता है।

अनुभूत मूल्यों के संस्कार और स्मृति दृढ़तर होते हैं और उस अनुभूति के व्यंजक शब्दों और संकेतों के सहायक होते हैं। अननुभूत मूल्यों के आकारिक पर सजीव और स्फुट संप्रेषण के लिए-- वे अतीतकालिक हों या संभाव्यमगा---- अनुभूत मूल्यों के संस्कारों से उनका संबन्ध ही व्यंजना का द्वार बनता है। उनमें बहुत अन्तर होने पर व्यंजना असमर्थ होने लगती है। यह बात मूल्यों में नैतिक या आस्था-विरोध होने पर स्पष्ट हो जाती है। जनतंत्रात्मक देशभक्ति के साथ आनुवंशिक राज-भक्ति के संस्कारों की या एक-पत्नी-विवाह की प्रथा को नैतिक समझने वाले संस्कारों के साथ बहु-पत्नी-विवाह के संस्कारों की संगति कठिन है। भौतिकवादी आस्था के साथ देव भक्ति के संस्कारों का मेल उतना ही कठिन है। कल्पना और शब्द की गति अवश्य ही अबाध है किन्तु मूल्यात्मक अर्थों की स्फुट प्रतीति का संप्रेषण या भावना वर्तमान अनुभव के संस्कारों की अपेक्षा रखता है। फलतः ऐतिहासिक चेतना का यथार्थ साहित्यिक रचना और आस्वादन की सफलता के लिए एक सीमा बन जाती है। इसीलिए देश-काल में सुदूर साहित्य का आस्वादन अधिकाधिक शिक्षा पर निर्भर करता है। क्लासिक्स या विदेशी साहित्य का प्रचलन उनकी शिक्षा, प्रकाशन, प्रचार आदि की विशेष व्यवस्था की अपेक्षा करता है। "सभी आलोचना रुचि के ज्वलंत प्राकारों के अन्दर रहती है।" और रुचि ऐतिहासिक चेतना का निष्यन्द है।

जहां तक साहित्य का आस्वादन उसकी मूल्यात्मक अन्तर्वस्तु पर निर्भर करता है, उसकी सांस्कृतिक सापेक्षता अनिवार्य है और इस सापेक्षता से मूल्यात्मक विषय के रूप में साहित्य भी अछूता नहीं रहता। रचना और आलोचना के क्षेत्र में परम्परा और आधुनिकता का संघर्ष, पुरानी धारणाओं के प्रति विद्रोह, नये प्रतिमानों की खोज, इस ऐतिहासिक तथ्य के निदर्शन हैं।

इतिहास और संस्कृति

ऐतिहासिक-सांस्कृतिक मूल्यों को अपनी अन्तर्वस्तु बनाते हुए साहित्य अनिवार्यतया ऐतिहासिक तथ्यों में सिमटने लगता है। तो भी इतिहास के बहिरंग और अन्तरंग पक्षों में भेद करना आवश्यक है। साहित्य की वास्तविक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि उसकी बहिरंग ऐतिहासिक घटनाओं में न होकर उस मूल्य-परिप्रेक्ष्य में खोजनी चाहिए जो उसे अपनी सामाजिक स्थिति और परम्परा में अन्तर्निहित रूप से प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए **शेखर-एक जीवनी** के लेखक का कारागार

में होना कृति के लिए एक बहिरंग तथ्य है जब कि स्वाधीनता आन्दोलन की युग-चेतना उसके परिप्रेक्ष्य का एक आयाम है। वस्तुतः इतिहास की ही कल्पना एक प्राकृतिक घटना-श्रृंखला की तरह नहीं करनी चाहिए। कार्य-कारण-भाव से नियत अथवा आकस्मिक क्रियाएं ही जिनका स्वभाव है, ऐसी अचेतन वस्तुओं के अकृत्रिम समूह को ही प्रकृति माना जाता है। मानव-समाज और संस्कृति इससे स्पष्ट ही सर्वथा भिन्न हैं। उनके इतिहास का निरूपण चेतन विषयी, स्वतंत्र कर्म, बुद्धिपूर्वक व्यवस्था, इत्यादि विचार-कोटियों के विना संभव ही नहीं है। यदि संस्कृति मूल्य-बोध है तो इतिहास उस बोध का देश-काल में प्रकाशन है। एक ही मूल्य-सृजनात्मक व्यापार के अनेक स्तर देखे जा सकते हैं-- बुद्धिगोचर तत्व, भावगोचर मूल्य, प्रत्यक्षगोचर रूप। प्रत्यक्ष के स्तर पर असंख्य तात्कालिक घटनाएं घटती हैं जिनमें मानवीय चेतना और सार्थकता के सूत्रों से जुड़ी हुई घटनाएं ही इतिहास की कल्पना में प्रविष्ट होती हैं। यद्यपि आधुनिक वैज्ञानिक प्रकृति को अचेतन और प्रयोजनरहित मानते हैं, तथापि वे प्राणिजगत् में विकास स्वीकार करते हैं। प्रकृतिवादी समाज-वैज्ञानिक और ऐतिहासिक भी इतिहास में विकास के सूत्र को देखते हैं। इस प्रकार सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास में एक निगूढ बुद्धि-संगति में विश्वास प्रायः सभी के लिए अभिमत है, चाहे वे परम्परावादी हों, चाहे आधुनिकतावादी। विकास और उसकी आधारभूत युक्ति की व्याख्याएं अवश्य ही नाना प्रकार की मिलती हैं। पारम्परिक दृष्टि के अनुसार मानव-जीवन और इतिहास के तत्व शाश्वत हैं, और उसकी गति चक्राकार है। आधुनिक दृष्टि मानव-परिस्थितियों में एक सरल रेखाकार वैकासिक गति देखती है।

चूंकि पारम्परिक दृष्टि से मानव-स्वभाव और सामाजिक-नैतिक और भावात्मक सूत्र वे ही बने रहते हैं, साहित्यिक विश्व भी काल्पनिक योजनाओं के बावजूद मूलतः वही बना रहेगा। आधुनिक दृष्टि में अनेक विभिन्न संभावनाएं संगृहीत हैं। तेजी से होते हुए परिवर्तन मनुष्य के नैतिक, भावात्मक, बौद्धिक, संस्थागत, और सांकेतिक परिवेश को जिस अस्थिरता और अनिश्चय में डालते हैं, उनसे साहित्यिक विश्व भी एक अनियत-अप्रत्याशित संभावना-प्रवाह में पड़े दीखते हैं। पिछले युगों में यह माना जाता था कि एक सनातन ज्ञान की परम्परा ही आदर्श संस्कृति का सार्वभौम आधार है।आजकल यह आशा की जाती है कि वैज्ञानिक प्रगति मनुष्य को एक सार्वभौम संस्कृति की ओर ले जा रही है जिसकी सर्वमान्य, बुद्धिसंगत चहारदीवारी के अन्दर वैयक्तिक स्वच्छन्दता और सामाजिक

सुविधाओं के कारण जीवन के नाना वैकल्पिक विधान संभव हैं जो एक ही विश्व-संस्कृति की द्वीप-माला के अन्तर्गत द्वीपों के समान माने जा सकते हैं। संस्कृति की आजकल सामान्यतया प्रचलित व्याख्या के अनुसार, मानवता जिस एक दिशा में विकास कर रही है उसका स्पष्ट पूर्वाभास वर्तमान पश्चिम में इस समय लक्षित होता है। वैज्ञानिक मानवतावाद और ऐतिहासिक विकासवाद पर आधारित यह दृष्टि परम्परागत संस्कृति के अनेक आयामों को छाँटने में लगी है जैसे पारलौकिक धर्म, आध्यात्मिक दर्शन, धर्ममूलक नैतिकता। यद्यपि बौद्धिक शिक्षा के स्तर पर अतिप्राकृतिक सत्ता संशय अथवा अविश्वास के क्षेत्र में चली गयी है, धार्मिक आस्था अपने चिरन्तन क्षेत्र में-- मनुष्य के अपने अस्तित्व, मृत्यु और नियति से संबद्ध जिज्ञासा और संवेग के विषय में-लुप्त नहीं हुई है। नैतिक बोध के आधार को धर्म से विच्छिन्न कर केवल मात्र सामाजिक-राजनीतिक मर्यादा, आर्थिक उपयोगिता या मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों से जोड़ने का प्रयास भी उतना ही सफल हुआ है जितना लौकिक व्यवहार में और लोकायत दर्शन में हमेशा से था।

आधुनिकता

मनवीय संस्कृति को प्रविधि, विधि, मूल्य और संकेत-प्रतीक के चार पर्वों में व्यवस्थित माना जा सकता है। इन्हीं के द्वारा उत्पादन-सामर्थ्य और अपेक्षापूर्ति, सहकार और सहचार, साध्य-साधन-विवेक और अर्थ-संप्रेषण के रूप में संस्कृत जीवन निष्पन्न होता है जिसके दो ध्रुव अपेक्षापूर्ति और मूल्य-साधना हैं। दूसरे ध्रुव की विवेकात्मकता ही मनुष्य को पशुता से ऊपर ले जाती है। आधुनिक दृष्टि विवेक को मूलतः तर्कबुद्धि से अभिन्न मान कर सभी परम्परागत आस्थाओं और संस्थाओं को उससे परखना चाहती है। इस द्वन्द्वग्रस्त पश्चिमी चेतना से संपर्क के कारण प्रायः दो सदियों से भारतीय विचारक इस समस्या से जूझ रहे हैं कि परम्परा को वर्तमान से कैसे जोड़ा जाए। क्या परम्परा को सुधारना चाहिए या तोड़ना चाहिए? क्या सुधार या नयी परम्परा के निर्माण के लिए समसामयिक पश्चिमी विचार-धारा पर्याप्त या आवश्यक है? समसामयिकता के बदलते संदर्भ में वही मूल प्रश्न विचार के नाना क्षेत्रों में बार-बार उठता रहा है। पश्चिम में इस प्रश्न के उठने का एक संतत ऐतिहासिक कारण है। वहाँ पुनर्जागरण, धार्मिक सुधार और संघर्ष, एवं आर्थिक, वैज्ञानिक और राजनीतिक क्रान्तियों के निरन्तर दबाव और प्रेरणा से ऐसी प्रतीति उभरी है कि मानवता मानो अतीत के चिरंतन धार्मिक और सामाजिक बंधनों से क्रमशः मुक्त होकर एक ऐसे भावी समाज की

ओर प्रगति कर रही है जहाँ वैज्ञानिक प्रबुद्धता, प्राविधिक-आर्थिक समर्थता, सामाजिक समता और वैयक्तिक एवं राजनीतिक स्वतंत्रता का आदर्श चरितार्थ किया जा सकेगा। पश्चिम की अधिकांश बुद्धिजीवी जनता को ऐसा प्रतीत होता है कि मानव इतिहास अब एक ऐसे मोड़ पर पहुँच गया है जहाँ से वह एक क्रान्तिकारी युग के परे अपना उज्ज्वल भविष्य स्पष्ट देख सकता है। इस प्रकार की प्रतीति में परंपरा के प्रति असंतोष स्वाभाविक है। उसमें परिवर्तन की उपासना भी स्वाभाविक है, भारतवर्ष में पहले एक विजेता संस्कृति के अनुभाव से और अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से, अब एक पिछड़े देश की विवशताओं के द्वार से भारतीय बुद्धिजीवियों में भी जाने-अनजाने समसामयिक पश्चिमी विचार-धाराएं प्रभावी ढंग से मिलती हैं। स्वतंत्रता के बाद के युग में ऐसी प्रतीति भारत में व्यापक हो गयी है कि पश्चिम के साथ उसकी इतिहास-धारा में पीछे-पीछे भागना सभी अन्य देशों व सभ्यताओं की नियति है और उन्हें भी अपनी परम्पराएं छोड़कर पश्चिमी आधुनिकता को चरितार्थ करना है। प्रसिद्ध इतिहासविद् टॉयनवी ने तो यह भी प्रतिपादित किया है कि इस समय विश्व में सिर्फ एक सभ्यता जीवित है और वह पश्चिमी सभ्यता है। लेनिन की भविष्यवाणी कि सांस्कृतिक भेद आर्थिक व्यवस्था में तिरोहित हो जाएंगे अब एक ऐतिहासिक मजाक़ की तरह अमरीका के द्वारा चरितार्थ की जा रही प्रतीत होती है।

इस समस्त चिन्तन में यह अविचारित रूप से स्वीकार कर लिया गया है कि समस्त मानवता एक ही इतिहास-धारा में प्रवाहित है और उस धारा की एक ही दिशा है जिसे आधुनिक पश्चिम ने सही तौर पर पहिचान लिया है। हज़ारों साल से मनुष्य इस आस्था के सहारे जीता रहा है कि यह लोक और जीवन ही सब कुछ नहीं है, मृत्यु के परे भी एक जीवन है, परलोक है। नैतिक-सामाजिक व्यवस्था में वह एक मनुष्योत्तर, दिव्य विधान का आभास देखता रहा है। देवोपासना और देवकृपा के सहारे वह जीवन में हित-सुख की कामना करता रहा। प्रकृति को वह देवाख्यानात्मक या "मिथकीय" कल्पना की आंखों से देखता रहा। संक्षेप में परम्परागत मानव-जीवन धार्मिक आस्था पर आधारित रहा है। पश्चिमी आधुनिकता इस आस्था को एक वैज्ञानिक-लौकिक दृष्टि से विस्थापित करने में सचेष्ट है। पर एक प्रसिद्ध उक्ति है कि इतिहास को फावड़े से उठा कर नहीं फेंका जा सकता। विज्ञान और प्रविधि के बदलने से व्यावहारिक कार्य-संपादन के तरीके बदल जाते हैं और साथ ही बाह्य जगत् के विषय में चिन्तन की अवधारणाएं और

तार्किक भाषा में बदलाव आता है। तो भी मानव-स्वभाव और प्रवृत्तियों में मौलिक परिवर्तन नहीं आता, न मनुष्य को अपनी नैतिक और सामाजिक समस्याओं को हल करने का कोई जादुई मंत्र मिल जाता है। परिवर्तित बौद्धिक और प्राविधिक वातावरण में भी मानव-जीवन पुरानी लीकों से सर्वथा नहीं हट पाता। इस परिवर्तन और अपरिवर्तन, दोनों का ही सबसे सटीक उदाहरण साहित्य और कला के क्षेत्र में देखा जा सकता है।

मानवीय अस्तित्व से जुड़ी स्थितियां, मूलभाव और एषणाएं, सत्ता के लिए संघर्ष, प्रेम और मृत्यु, संयोग और वियोग, स्नेह-संबन्ध और कर्त्तव्य के संकट, वैचारिक और सामाजिक द्वन्द्व एवं विसंगतियों का बोध, आदर्श और यथार्थ का तनाव, परोक्ष प्रतीतियों की अनिवार्यता और संशय, प्रत्यक्ष ज्ञान की बढ़ती सीमाएं और जिज्ञासा आदि जीवन के असंख्य ताने-बाने साहित्य के सार्वभौम उपादान हैं। पर उनके रंग और बनावट, कारीगरी और निर्माण-विधाओं में उतने ही असंख्य भेद दीखते हैं, जिन्हें साहित्यकार के व्यक्तित्व और प्रेरणा तथा उसके समाज एवं युग से जोड़ा जा सकता है। होमर और शेक्सपीयर, कालिदास और तुलसीदास को सर्वयुगीन माना जाता है। किन्तु उनकी स्वयुगीनता भी असंदिग्ध है और उनकी सर्वयुगीनता उचित शिक्षा-सापेक्ष है। दूसरी ओर डिकेन्स और बाल्जाक, प्रूस और वर्जीनिया वुल्फ, सार्त्र और काफका में एक ऐसी सघन स्वयुगीनता है जिसके आस्वादन-विवेचन के लिए आधुनिक चेतना में प्रवेश एक पूर्वावश्यकता है। आधुनिक चेतना मानवता को व्यक्ति और समाज के द्वन्द्व से ग्रस्त पाती है, व्यक्ति उसे एक वितर्क-बहुल, संशयाकुल अहं या विखंडित अहं के रूप में दीखता है, समाज दीखता है संघर्षों से बदलता हुआ, इस समय एक अभूतपूर्व क्रान्ति से ग्रस्त। अतिमानवीय ज्ञान में अनास्था के कारण उसके लिए न सिर्फ "मानवता ही सब विषयों का मानदण्ड है", मानवता उसके लिए स्वयं अन्ततः औसत मानवता है। ऐसी स्थिति में सामाजिक मर्यादाओं का आधार बन जाती है आम जनता की स्वच्छन्दता और विशेषज्ञों का विज्ञान। ज्ञान-विज्ञान, संकेत-प्रतीक और समाज की तेजी से बदलती व्यवस्थाओं में मनुष्य की यह प्रतीति कि वह अतीत से टूट रहा है, अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु जैसा ऊपर संकेत किया गया है मूल्य-बोध के बुनियादी सन्दर्भ और उत्स बदले नहीं हैं। तात्कालिक वैचारिक और सामाजिक पर्दों के पीछे से भी उनकी भूमिका को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता। एक

ओर ऐसा लगता है कि मनुष्य अभूतपूर्व प्रगति के युग में प्रवेश कर रहा है जिससे पिछले छः हजार वर्षों की सभ्यता उतनी ही जीर्ण और अत्यस्त हो जाएगी जितनी सभ्यता के उदय से प्रागैतिहासिक संस्कृति। जैसे आखेटकों का वन्य जीवन पश्चिमी सभ्यता के लिए एक सुदूर स्मृति रह गयी है ऐसे ही हल-बैल और घोड़ा-गाड़ी की सभ्यता भी वहां विलुप्त है पर अभी भाषा और साहित्य के संस्कारों में अविस्मृत है। हर दशक में दुगने होते विज्ञान के द्वारा भविष्य की सामाजिक क्रान्ति से वह भी निर्जीव स्मृति बन जाएगी, ऐसी कल्पना स्वाभाविक है। आरण्यक जीवन के समान ही ग्राम-जीवन भी पश्चिम की औद्योगिक संस्कृति में अस्तप्राय है। उस सामाजिक-भौतिक क्रान्ति से क्या पारम्परिक सांस्कृतिक-साहित्यिक विरासत अतीत के कचरा-पात्र में डाल दी जाएगी? अथवा क्या साहित्यिक विरासत उस कचरा-पात्र के चित्र की तरह संग्राह्य रहेगी और वर्तमान के लिए उसकी प्रेरणा सिर्फ उसके रूपविधान की ही होगी ?

बौद्धिक और भौतिक विकास के द्वारा समाज प्रगतिशील हो, यह पिछली सदी के भारतीय विचारकों के लिए सामान्यतया, प्रत्यक्षवाद या भौतिकवाद के पक्षधरों को छोड़कर, कभी भी विवादास्पद नहीं था पर कुछ विद्वान् और लेखक यह मानते रहे हैं कि चिरन्तन नैतिक-आध्यात्मिक परम्परा इस भौतिक वैज्ञानिक विकास में रुकावट डालती है या डाल सकती है। प्राचीन परम्परा का अधिकाधिक मृतप्राय होते जाना इस बात को सिद्ध करता समझा जाता है कि उसकी वर्तमान जीवन के लिए कोई उपयोगी प्रेरणा नहीं है। उदाहरण के लिए समाज-शास्त्र के वर्तमान अध्ययन का और समाज के कानूनी सुधार का पुरानी शास्त्रीय परम्परा से या तो कोई संबन्ध नहीं है, या विरोध है। वर्तमान भारतीय दार्शनिक चिन्तन अब अध्यात्मवाद से जुड़ी परम्परा में से लौकिक-तार्किक सन्दर्भों को बीन रहा है और उन्हें पश्चिमी विचार-धाराओं के साथ मिला कर एक नयी प्रगतिशील धारा प्रवाहित करने की चेष्टा में है। समन्वय का प्रयास भी अवश्य ही मिलता है और उस प्रयास की दिशा पिछली दो सदियों की महत्वपूर्ण विरासत है, पर समन्वय के लिए स्वतंत्र प्रज्ञा का अपनी अनुभूति के प्रकाश में प्रयोग आवश्यक है। स्वाधीनता-आन्दोलन के दिनों में इस प्रकार की प्रज्ञा और उसके द्वारा अपूर्व समन्वय का एंक सीमा तक सफल प्रयास अवश्य किया गया और यह संस्कृति और साहित्य के सभी क्षेत्रों में देखा जा सकता है। स्वाधीनता के बाद इस स्थिति

में तेजी से परिवर्तन आया है और उससे समन्वय का पारम्परिक पक्ष छूट रहा है और आधुनिकीकरण के नाम पर पाश्चात्यीकरण का प्रसार एक अपभ्रंश के समान देखने में आ रहा है।

यहां पर प्रश्न समकालीन युग के मूल्यांकन का नहीं है। प्रश्न इस युग के साहित्यिक संदर्भ में पुरानी परम्परा के मूल्यांकन का है। १६वीं सदी और २०वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक भारत का सांस्कृतिक नेतृत्व, परम्परा के अनुसार राममोहन राय से गान्धी तक अध्यात्मवादी मनीषियों और द्रष्टाओं के हाथ में था और उन्होंने समाज के वैज्ञानिक-भौतिक विकास और उसके नैतिक-आध्यात्मिक विकास में किसी प्रकार का विरोध नहीं देखा। उस युग की रचनाओं में परम्परा और आधुनिकता का एक सृजनात्मक समन्वय था जिसमें आधुनिकता अपनी समसामयिक पश्चिमी सभ्यता से परिभाषित थी। स्वयं पश्चिम में उस समय तक आधुनिकता परम्परा का विकास मानी जाती थी, विच्छेद नहीं।

स्वतंत्रता के बाद से जो परम्परा की पकड़ तेजी से ढीली हो रही है, उसका कारण न सिर्फ शिक्षा का विदेशीकरण है, या पुरानी परम्परा में प्रतिष्ठित मानक ग्रन्थों और उनकी भाषा, क्लैसिक्स और संस्कृत से गहराता अपरिचय है बल्कि यह भी है कि पश्चिम में नयी वैज्ञानिक प्राविधिक क्रान्ति ने एक ऐसे चिन्तन को भी जन्म दिया है जो भविष्य की कल्पना को अतीत की स्मृति से विच्छिन्न करना चाहता है। इस प्रकार की कल्पना का मूलाधार यह मान्यता है कि ज्ञान की एकमात्र विधि वैज्ञानिक अर्थात् तर्कसमर्थित ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष है। यह मानने पर सभी स्वरूपतः परोक्ष, अतीन्द्रिय विषय निरस्त हो जाते हैं, विज्ञान ही एकमात्र ज्ञान रहता है, और मनुष्य एक प्राकृतिक विषय बन जाता है। मनुष्य का आत्मज्ञान उसके मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, नृतत्वविज्ञान, इतिहास आदि से अभिन्न बन जाता है। पर इस प्रकार की परोक्ष तार्किक प्रतीति से मनुष्य की अपरोक्ष आत्मप्रतीति का स्वरूप मूलतः नहीं बदलता पर मानव जीवन के अनुशासन और समाज-व्यवस्था में अन्तर आ जाता है। सच तो यह है कि बाहरी प्रकृति का दृश्य रूप भी नहीं बदलता पर यह अवश्य है कि प्रकृति के ऊपर नियंत्रण बढ़ने से उसकी ओर दृष्टि और प्रतिक्रिया बदल जाती है। विश्वदृष्टि के बदलने से परोक्ष मूल तत्व या ईश्वर के विषय में धारणा और उससे जुड़ा उपासनात्मक जीवन विच्छिन्न हो जाता है।

आधुनिकता की मूलभूत यह दृष्टि मानव-जीवन के परम्परागत स्थायी तत्वों में कुछ को बदल डालती है, कुछ को "संरचनात्मक-भ्रान्ति" के रूप में स्वीकार कर उनके प्रति व्यवहार को बदल देती है। मानव, प्रकृति और ईश्वर का त्रैत सुप्रसिद्ध है। ईश्वर में आस्था और धार्मिक जीवन, शास्त्र को एवं असामान्य महापुरुषों को प्रमाण मानने पर निर्भर रहा है। नयी दृष्टि इस समूचे आयाम को निरस्त कर जीवन का ऐहिकीकरण निष्पादित करती है। प्रकृति के सर्वथा अदेवीकरण और अमिथकीयता-संपादन से उसकी ओर कुतूहल के बने रहते भी वह एक प्रकार से अन्तःसारहीन, "एक खाली छिलका" (हेगेल की उक्ति) बन जाती है। मनुष्य की आत्मप्रतीति के अपरिवर्तित रहने पर भी उसकी चिन्तन-पद्धति और भाषा-प्रयोग, अन्य मनुष्यों के साथ उसके संबन्ध, उसकी सामाजिक भूमिका और अनुभूति में अन्तर आ जाता है। यह स्मरणीय है कि आधुनिक युग के पहले भी विश्व-दृष्टि में परिवर्तन घट चुके हैं और उनके कारण पूर्वोक्त क्षेत्रों में समानान्तर परिवर्तन न्यूनाधिक मात्रा में हुए हैं। भाषा, धार्मिक विश्वास, दार्शनिक कल्पना, सामाजिक संस्थाओं ने अनेक बार परिवर्तित होकर नाना युगों में नये रूप धारण किये हैं किन्तु भौतिक जीवन में इतनी अविराम क्रान्ति लाने में समर्थ वैज्ञानिक ज्ञान से अपने को जोड़ने वाली विश्वदृष्टि के रूप में आधुनिकता एक अपूर्व घटना है और उससे प्रभावित परिवर्तनों की श्रृंखला भी वर्तमान साहित्य पर विचार करने के लिए उतनी महत्वपूर्ण है जितनी कि उसके द्वारा आक्षिप्त नयी आत्मप्रतीति या मानव-कल्पना। पर यह विचारणीय है कि जहां वैज्ञानिक विश्वदृष्टि का ज्ञानपरक विधाओं पर प्रभाव स्पष्ट और व्यापक है, रचनात्मक साहित्य में व्यक्त मानव-प्रतिमा में प्रतीति, संशय और विश्वास के विरोधी स्वरों का कोलाहल अविराम रूप से मिलता है। जड़-विज्ञान की निष्ठा से चेतन अस्तित्व की अनिवार्य प्रतीति और उससे जुड़ी सार्थकता की खोज विलुप्त नहीं हुई है। स्वातंत्र्य और सामाजिक न्याय, बौद्धिकता और परिवर्तन, विश्वबन्धुत्व और मानव-प्रेम आदि अवश्य आस्था के विषय के रूप में मिलते हैं किन्तु महान साहित्यिक रचना के स्तर पर व्यक्ति-स्वातंत्र्य एवं स्थिति-पारवश्य, स्वभाव और बौद्धिकता की द्वन्द्वात्मक भावनाएं जिस प्रकार व्यक्त हुई उस प्रकार अन्य भावनाओं के विषय में नहीं कहा जा सकता। मानव-प्रतिमा की प्रस्तुति में अपने विशिष्ट चरित्र और अतर्क्य घटनाओं का परतंत्र मानवव्यक्ति ही रचना का मुख्य विषय बना रहा है। अपने से जूझता, संशयग्रस्त हैमलेट, स्वतंत्रता के लिए जगदीश्वर से लड़ने के लिए

अध्यवसित शैतान, अथवा वैज्ञानिक शक्ति-साधना के लिए, आत्मा को बेचने के लिए तैयार फाउस्ट जैसे अत्याहित चरित्रों में आधुनिक चेतना के प्रतीक देखे जा सकते हैं। औसत नैतिक स्तर के असंख्य मध्यवर्गीय व्यक्ति-चरित्र अथवा समाज के पददलित स्तर के "पतित" पात्रों, को केन्द्र बना कर आधुनिक साहित्य जिस कथा को प्रस्तुत करता है उसकी भावभूमि देवाख्यान और वीराख्यान से बहुत दूर सामान्य मानवता के स्तर पर घटती है। अलौकिक उद्यान से निष्कासित आदम की संतान के लिए सभी अलौकिक बातें और असाधारण संभावनाएं संशय और अविश्वास के अंधेरे में छिपी और भूली जा चुकी हैं। अपनी तर्कबुद्धि, स्वतंत्र इच्छा-शक्ति, और शिल्प-कौशल के सहारे वह पृथ्वी को नन्दन-कानन में बदलना चाहता है। पर प्रकृति की खोज में उसकी सफलता से उसकी अपने आपकी खोज तुलनीय नहीं है। १६वीं सदी के महान् उपन्यासों में उसकी प्रतिमा चारित्रिक विलक्षणता से संपन्न मानव-व्यक्ति के रूप में गढ़ी गयी थी पर मनोविज्ञान और समाजविज्ञान की प्रगति ने इस प्रतिमा की काल्पनिकता सिद्ध की। अवचेतन और अचेतन स्तरों पर मानवीय आत्मानुसंधान से सुघटित व्यक्ति के रूप में कल्पित उसकी प्रतिमा ही विखंडित होने लगती है। वर्जीनिया वुल्फ और प्रूस के उपन्यास इसके दृष्टान्त हैं। दूसरी ओर जाति, वर्ग या राष्ट्र में मनुष्य की अस्मिता खोजना भी उसकी आत्मा को खोना ही है। इस प्रकृति-विजय की किन्तु आत्मिक विखंडन की स्थिति में भावों का अनभ्यस्त बिखराव अप्रत्याशित नहीं है। संशय और अनाश्वास, विखराव और संघर्ष ने निष्ठा और समाधि को विस्थापित कर दिया है।

आधुनिकता एक विशेष प्रकार की चेतना है जिससे आधुनिक साहित्य संदर्भित है। इस चेतना के अनेक पक्षों का पहले उल्लेख किया गया है। साहित्यिक स्तर पर उसका प्रकाशन रूप और भाव के परिवर्तनों में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए जातीय महाकाव्य और नियत-रूप एवं नियत-छंद में लिखे गये अन्य प्रकार के काव्यों के स्थान पर वर्तमान पश्चिम में मुक्त छंद और अनियत रूप की कविताओं का प्रचलन बढ़ा है। रचनाकार की स्वच्छन्दता का इसे उद्घोष समझना चाहिए। यह ध्यान देने योग्य है कि जहां रचना के क्षेत्र में व्यक्तित्व की विलक्षणता एक बड़े मूल्य के रूप में स्वीकृत है, वहीं सार्वजनिक व्यवस्था के स्तर पर समानीकरण ने और उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन के स्तर पर यांत्रिकीकरण ने व्यक्तित्व को निराकृत कर दिया है।

गद्य का अभूतपूर्व विस्तार अपने आप में एक आधुनिकता का लक्षण है। पुरानी कथायें कौतुक-प्रधान, नीति प्रधान या काव्य प्रधान थीं, पर आधुनिक उपन्यास को एक तरह से महाकाव्य का स्थानीय कह सकते हैं जो कि समस्त जीवन को व्यक्त करता है। लघुकथा पहले की तुलना में काव्य के अत्यन्त संनिकट है। यदि कविता में व्यक्तित्व या वैयक्तिक कल्पना का प्रकाशन प्रमुख लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया प्रतीत होता है तो उपन्यास में नैतिक दृष्टि से सामान्य स्तर के पात्रों और घटनाओं के द्वारा उनकी मानवीयता के अधूरेपन के साथ उनके पृथक्-पृथक् चरित्रों अथवा विखंडित मनःस्थितियों के संदर्भ में एक अस्थिर और सापेक्ष सामाजिक जीवन के अधूरेपन का प्रकाशन ही उपन्यास का लक्ष्य बन जाता है। आधुनिक साहित्यकार जिस मानवीयता की खोज करना चाहता है इसमें एक अनिवार्य द्वन्द्व है। एक ओर सामान्य जीवन के सन्दर्भ में "अघटित संभाव्यता" की कसौटी उसके लिए मान्य होती है, दूसरी ओर कौतुक के सृजन के साथ-साथ सामान्यतम मानव में असामान्यता का घनीभूत मूल्य के समान आविष्कार उसके लिए आवश्यक है। तर्क-बुद्धि और जनतांत्रिक बुद्धि देवलोक, वीरलोक असामान्य संभावनाएँ, असामान्य घटनाएं, इन सभी को निर्वासित करती है किन्तु इस लोभ को कोई नहीं छोड़ सकता कि प्रत्येक व्यक्ति में कहीं सिन्ड्रैला की और प्रत्येक स्थिति में अतीत के शाप के परे भावी अलका की छवि छिपी मिल सके। बाल्जाक जिसके विषय में यह कहा गया है कि वह मानवीय कोमेडी प्रस्तुत करने में कल्पना को ही यथार्थ का जामा पहना देता है अथवा डोस्टेय्स्की जो स्पष्ट ही रजोलांछित आत्माओं को प्रेम की पारसमणि से स्वर्णिम बनाना चाहता है, इस प्रवृत्ति के निदर्शन माने जाते हैं। अहिवलय में कुवलयमाला खोजना तो प्राचीन है। आजकल उसकी चमत्कारिता छोड़कर एक बौद्धिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया के द्वारा उसका समझाना आवश्यक है। न देवता हैं, न दानव, न गजेन्द्रमोक्ष। सत्-असत् की प्रवृत्तियां छोटी-छोटी मात्राओं में सामान्य और दुर्बल मानव का निर्माण करती हैं और उसके अतिचार एवं अत्याचारों की कथा का निर्वहण ऐतिहासिक भविष्य में प्रकट होगा। इस बीच मानव नियति संशय और संघर्ष में पड़ी मिलती है।

यद्यपि यह पहले स्वीकार किया जा चुका है कि सांस्कृतिक मूल्यों से संश्लिष्ट भाव ऐतिहासिक रूपों में व्यक्त होते हैं और साहित्य की व्यंग्य अन्तर्वस्तु बनते हैं, और इस दृष्टि से साहित्य में व्यंजक रूपों की कल्पना एवं उनके व्यंग्य अर्थ

युग-सापेक्ष होते हैं, तो भी इसमें संदेह नहीं हो सकता कि साहित्य मात्र की प्रक्रिया के कुछ तत्व एक प्रकार की प्रवाह-नित्यता का प्रदर्शन करते हैं। रूप और संकेत, व्यंजकता और व्यंग्यार्थ, भाव और रस तथा कल्पना-ये तत्व सभी साहित्य में किसी न किसी रूप में उपलब्ध रहते हैं क्योंकि ये उसके मूल रचनात्मक तत्व हैं। जैसे भाषा में नाना रूपों और परिवर्तनों के बावजूद इस प्रकार के मौलिक तत्व होते हैं कि एक भाषा का दूसरी भाषा में अनुवाद किया जा सकता है-- ऐसे ही साहित्यिक कृतियाँ भी अपने मौलिक तत्वों में "पारिवारिक तुल्यता" प्रदर्शित करती हैं। ये तत्व परम्परा और आधुनिकता दोनों को व्याप्त करते हैं।

सभी साहित्य में मानवीय अनुभूति की चमत्कारी अभिव्यंजना मिलती है। किन्तु अपने आप में यह साहित्य की पहचान होते हुए भी उसकी अन्तर्वस्तु को निर्धारित नहीं करता और न उसके उत्कर्ष के निर्णय के लिए मानदण्ड प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए व्यंजकता से युक्त भाषा का प्रयोग साहित्य के अन्तर्गत होता है। किन्तु व्यंजना की सफलता या उत्कर्ष की कोई पूर्व प्रदत्त कसौटी या मानदण्ड नहीं है। ऐसे ही भावात्मक स्पन्दन से जुड़ कर ही व्यंग्य अर्थ साहित्य के अन्तर्गत होता है। किन्तु भाव की जीवन्तता को विशिष्ट सामाजिक परम्परा के संदर्भ में ही अवधारित-निरूपित किया जा सकता है। भाव के औचित्य अथवा उत्कर्ष का निर्णय भी समाजनिरपेक्ष सार्वभौम रूप से नहीं किया जा सकता। मूल्य-व्यवस्था, विचार-दृष्टि और भाषा के सूत्रों से संग्रथित सांस्कृतिक संदर्भ में ही साहित्यिक सम्प्रेषण और मूल्यांकन संभव है।

अन्तर्निहित सनातनता

भावों के प्रभेद और उनके प्रसिद्ध विभाव बदल जाने से साहित्य में उनका महत्व नहीं घट जाता, न भावसमाधि उपलब्ध न होने से रस का अभाव हो जाता है। न भाव मात्र नाट्यशास्त्र-प्रसिद्ध भावसंज्ञक नियतसंख्याक मनोवृत्तियां हैं या मनोविज्ञान-प्रसिद्ध आवेग ही हैं, न रस ही भाव-प्रवाह की समाधिवत् आस्वाद्यता है। भाव प्रचलित अभिवृत्तियों के मूल्यों से जुड़ने पर ही आत्मलाभ करने वाली भावनाएं हैं, और रस उनके लौकिक विषय और विषयी के अवच्छेदों से मुक्त निरवच्छिन्न स्वभाव की साक्षिता है। जहां तक साहित्य मानवीय सत्य का प्रतिरूपण है उसका केन्द्र अन्तःपरामर्शात्मक भाव ही हो सकता है क्योंकि भाव के द्वारा ही उस सत्य का अनुभव संभव है। भाव के तात्विक साक्षात्कार के रूप में रस साहित्य-दर्शन का स्थायी प्रत्यय है किन्तु वह साहित्य रचना का सहायक सूत्र नहीं

है। साहित्यिक आलोचना के प्रतिमान के रूप में उसे समझने के लिए उसे युगसापेक्ष भावों की सफल व्यंजना के संदर्भ में व्याख्यायित करना आवश्यक है।

भावोपाधिक आत्मबोध के रूप में रस काव्य और ललित कलाओं का अन्तर्निहित सनातन लक्ष्य है। पर उसका यह अर्थ नहीं है कि सब साहित्य में सरसता की उपलब्धि देखी जा सकती है। बहुत सा कथा-साहित्य मनोरंजन, कौतुक, नीति और इतिवृत्त-वर्णन में परिसमाप्त हो जाता है जैसे जातक, पंचतंत्र, **डिकैमरनति**। वक्तव्य प्रधान अथवा दस्तावेजी रचानाएं अथवा आलंकारिक रचनाएं भी इसी कोटि में रखी जा सकती हैं। अपने रचनात्मक चमत्कार और रंजकता के कारण उनकी साहित्यिकता असंदिग्ध होते हुए भी उनमें आत्मप्रधान जीवन-मूल्यों के गहरे अनुसंधान की व्यंजना अपर्याप्त रहती है। व्यावहारिक जीवन की अभ्यस्त भावात्मक अभिवृत्तियों में अपने को पूरी तरह से भूली चेतना उनके सारग्रहण में असमर्थ रहती हैं। भाव का विषयी स्वयं अपना साक्षी बनकर भाव के सार के रूप में आत्मबोध की एक संभावना साक्षात्कार करता है। वही रस की प्रतीति है। उसके लिए न अध्यात्मवादी दर्शन आवश्यक है, न किसी विशेष प्रकार के सांस्कृतिक मूल्य। न उसके लिए किसी व्यावहारिक यथार्थ की उपेक्षा आवश्यक है। उसके लिए अपनी और अपनी दुनिया की ओर अपने साक्षी की अन्तर्बाह्य दृष्टि आवश्यक है। जिन अभिवृत्तियों को अपना कर हम व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, उनको ही अपना विषय बनाने वाले विषयी की आत्मसाक्षिता ही रस की प्रतीति है। एक व्यक्ति क्रोध करता है, उसका ध्यान क्रोध के विषय पर, अपनी शिकायतों पर और अपने ऊपर केन्द्रित होता है। क्रोध का अनुभव उसे एक ऐन्द्रिय संवेदन से युक्त स्थूल आवेग के रूप में होता है जो विवेक को आच्छन्न करता है। क्रोध, शोक काम सभी में उनके व्यावहारिक विषयी की स्थिति इस प्रकार की होती है। इन आवेगों की स्मृति, प्रत्यवेक्षा या उनके अन्यगत होने पर सहानुभूति में उनका एक सूक्ष्म मनोमय प्रतिबिम्ब उपस्थित होता है जो ऐन्द्रिय आवेग के व्याकुल आग्रह से और उसके तात्कालिक विषय की अनालोचित सघनता से मुक्त होता है। उसमें अपरोक्षता बनी रहती है पर उसके साथ विवेक का परिप्रेक्ष्य जुड़ जाता है जो क्रोध को पश्चात्ताप से, शोक को धैर्य से, काम को संयम से, आलोचित करता है। क्रोधादि के मानसिक प्रतिबिम्ब की विषयिता में एक द्वैत रहता है। एक ओर मूल व्यावहारिक विषयी से अपने अभेद की प्रतीति के कारण विषयी अपने को विवेक के प्रकाश में नहीं देख पाता, उसकी प्रतीति

भाव के विगत, अन्यगत आगन्तुक आलम्बन-पक्ष की ओर न्यूनाधिकतया अनासक्त या तटस्थ होते हुए भी उसके आश्रय की ओर वैसी नहीं हो पाती। दूसरी ओर अपनी पिछली विषयि-चेतना या दूसरे की विषयि-चेतना को विषय बनाकर विवेकी साक्षी की भूमिका से उसे देखने पर विषय-विषयि-सापेक्ष भाव का स्वरूप प्रकट होता है जिसमें अनुभूति की सघनता के अन्दर आत्मबोध जागता है। यही स्थिति भाव की सार-प्रतीति, चैतन्य का उन्मीलन, या रसबोध की स्थिति है। भाव की संस्कृतिसापेक्ष संरचना, उसके विभाव आदि की बदलती पहिचान इसमें केवल उपादान बनते हैं, बाधा नहीं।